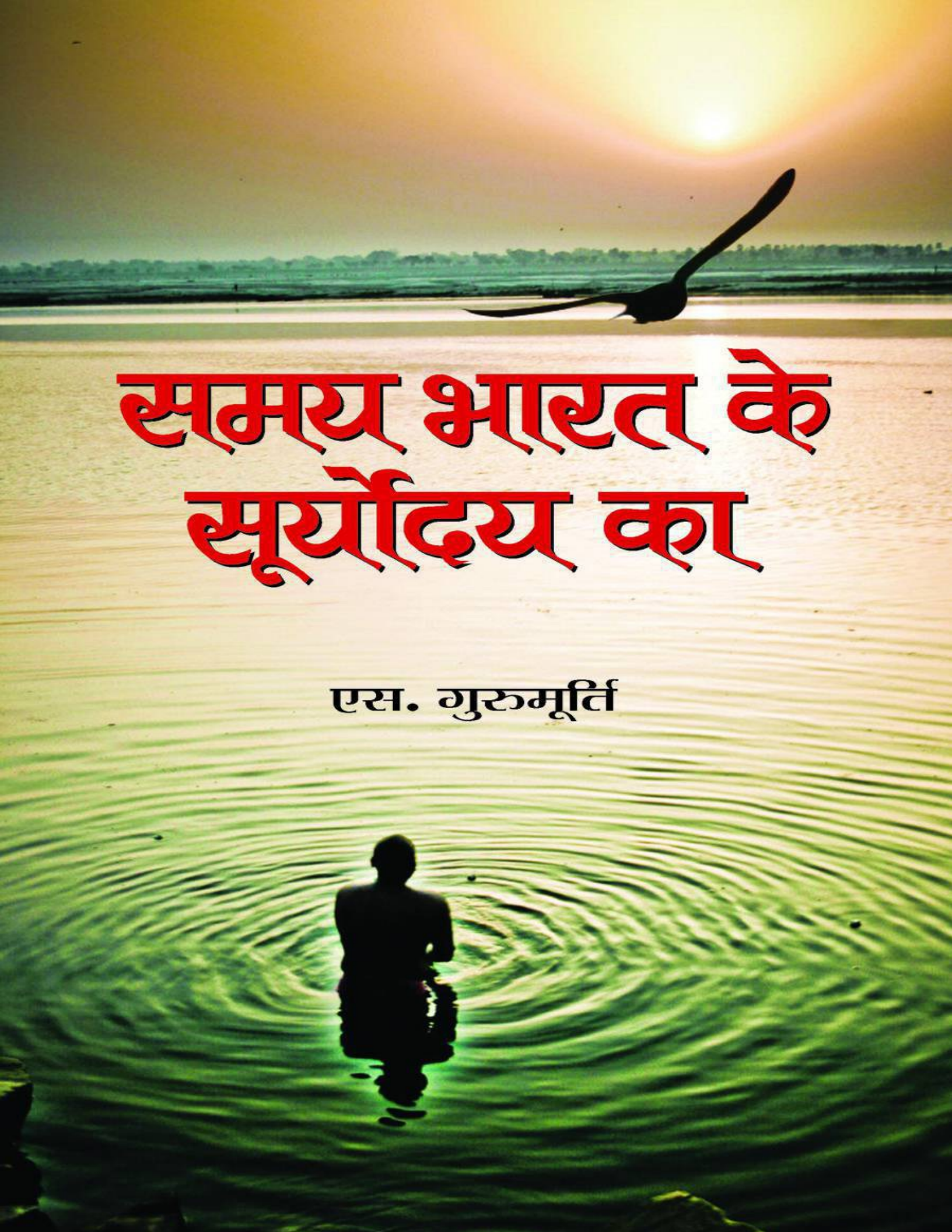

समय भारत के सूर्योदय का

एस. गुरुमूर्ति

VISIT…

समय भारत

के

सूर्योदय का

एस. गुरुमूर्ति

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2015 प्रकाशक

अमेरिका और

वैश्विक अर्थव्यवस्था :

कुछ कड़वे तथ्य

अमेरिका का अनदेखा चेहरा

यदि सभी देश विकसित हों तो कौन बचत करेगा और कौन अमेरिका को उधार देगा?

बैंकर लोगों की बचत करने की आदत पर जीते हैं। केंद्रीय बैंकर बैंकों के नियामक तथा संरक्षक के तौर पर लोगों की बचत को कुछेक अच्छे कारणों से बैंकों में लाने के लिए काम करते हैं। पहला, मितव्ययिता खपत को नियंत्रण में रखती है और बचत मूल्यों को संतुलित करती है, जो केंद्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

दूसरा, बैंकिंग व्यवस्था में बचत को नकदी के रूप में बैंक की तिजोरी में रखने के अलावा यह भी सुनिश्चित किया जाता है कि अस्थिरता पैदा करनेवाले उत्पाती धन को नियंत्रण में रखा जाए।

लेकिन यहाँ हम चर्चा कर रहे हैं एक केंद्रीय बैंक—अमेरिका के फेडरल रिजर्व सिस्टम और एक केंद्रीय बैंकर श्री एलन ग्रीनस्पैन की, जो अमेरिकी फेडरल रिजर्व बैंक के 28 वर्षों तक अध्यक्ष रहे। वास्तव में, श्री ग्रीनस्पैन को यह पसंद नहीं था कि धन बैंक की तिजोरी में भरा रहे। इसके बजाय वे उस धन को शेयर बाजार की ओर मोड़ने के पक्ष में ज्यादा थे।

कुछ ऐतिहासिक कारणों सहित भिन्न-भिन्न कारणों से, अमेरिका का फेडरल रिजर्व सिस्टम न केवल अमेरिका की बल्कि सारे विश्व की वित्तीय व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डालता है। पहला कारण यह है कि अमेरिका, जो विश्व का सबसे बड़ा ऋणदाता हुआ करता था, आज विश्व का सबसे बड़ा कर्जदार है। और इस सच्चाई के बावजूद अमेरिका आज भी उतना ही प्रभावशाली बना हुआ है जितना वह बीसियों वर्ष पहले सबसे बड़े साहूकार के रूप में हुआ करता था।

दूसरा कारण है कि अमेरिकी फेड से आया जरा सा भी संकेत देश की सीमाओं के पार, अर्थात् दूसरे देशों को प्रभावित कर सकता है। एक उदाहरण लें। यू.एस. फेड के तत्कालीन चेयरमैन श्री एलन ग्रीनस्पैन की जापान के संदर्भ में की गई संक्षिप्त टिप्पणी 'बेतुका उल्लास' और 'अनुचित रूप से बढ़ते शेयर मूल्य' के फलस्वरूप सन् 2006 में एक दिन में ही जापानी शेयरों के मूल्य 3.2 प्रतिशत नीचे आ गए।

तीसरा कारण यह है कि अन्य केंद्रीय बैंकों की तरह यह पूरी तरह अमेरिकी सरकार के अधीन नहीं है। यह एक प्राइवेट बैंक है, जिसका पूर्ण स्वामित्व एवं आंशिक नियंत्रण बड़े-बड़े वित्तीय घरानों के हाथों में है। जब यू.एस. फेड का गठन किया गया था, तब भी इसे वाल स्ट्रीट के एक विस्तार के रूप में देखा गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि फेड के द्वारा अमेरिकी सरकार नहीं, बल्कि वाल स्ट्रीट विश्व को प्रभावित करती है।

बाजार की लत

परंपरागत बैंकों को वित्त व्यवस्था का आधार मानने की जो धारणा विश्व के अधिकतर देशों, विशेषकर पूर्वी देशों में थी, वह धारणा 1970 के दशक की उत्तरावधि से अमेरिका में चलन से बाहर होने लगी और वह प्रक्रिया अब लगभग पूरी हो चली है।

यह दिखाने के लिए कुछ सांख्यिकीय आँकड़े ही काफी होंगे कि अमेरिकी वित्त व्यवस्था किस सीमा तक शेयर बाजारों की आदी और उन पर निर्भर हो चुकी है।

सन् 1978-1995 के दौरान, अमेरिका की वित्तीय परिसंपत्तियों में बैंकों की हिस्सेदारी आधी होकर 32 प्रतिशत रह गई और उसके साथ ही वाल स्ट्रीट शेयरों का हिस्सा दोगुने से भी अधिक बढ़कर 42 प्रतिशत हो गया।

सेवानिवृत्ति निधि (जिसमें कुल 16 लाख करोड़ डॉलर की राशि जमा थी) में बैंकों का हिस्सा सन् 1990 के 42 प्रतिशत का सन् 2006 में केवल 7 प्रतिशत रह गया। इसी अवधि में म्युचअल फंडों और दलालों के जरिए शेयरों में उनका निवेश 52 से बढ़कर 85 प्रतिशत हो गया।

इसके अलावा अमेरिकी बैंकों ने घर-परिवारों को बचत करनेवालों के बजाय कर्ज लेनेवाला बना दिया है। यू.एस. फेड, विशेषकर श्री ग्रीनस्पैन अमेरिका की वित्त-व्यवस्था में ऐसे बदलाव का उदाहरण कैसे कायम कर पाए?

ग्रीनस्पैन महोदय ने हाल ही में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि एज ऑफ टर्बुलेंस' में इसका उत्तर स्वयं दे दिया है। श्री ग्रीनस्पैन अपनी पुस्तक में यह सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं कि बचत करने की प्रवृत्ति—आप मानें या न मानें—अल्प विकसित होने का संकेत है। विकासशील देशों में, यानी वे देश जो पूरी तरह विकसित नहीं हैं, 'लोगों को दुर्दिन तथा सेवानिवृत्ति के लिए मजबूरन बचत करनी पड़ती है।'

इसकी तुलना में वह दिखाना चाहते हैं कि विकसित देश किस तरह व्यापक वित्तीय तंत्र के जरिए उपभोक्ताओं के एक बड़े वर्ग को अपनी वर्तमान आय से अधिक खर्च करने लायक बनाते हैं। यहाँ ग्रीनस्पैन महोदय की सोच प्राचीन भारत में चार्वाक के उस दर्शन से बहुत मेल खाती है, जिसने हजारों साल पहले घर-परिवारवालों को उधार लेने, खर्च करने और खुश रहने की सलाह दी थी।

ग्रीनस्पैन महोदय यहाँ इस सच्चाई से कतराने का प्रयास कर रहे हैं कि विकासशील देशों में जहाँ लोगों को संकट की घड़ी के लिए बचत करने हेतु 'बाध्य' किया जाता है, वहीं अमेरिका में उपभोक्ताओं को अपनी सामाजिक सुरक्षा, यानी अपने दुर्दिनों से निपटने के लिए जबरन 'कर' देना पड़ता है, जो अनिवार्य बचत के बदले में प्रपीड़क कर-वसूली का एक उदाहरण है। फिर भी वह बचत को 'बाध्यता' के रूप में देखते हैं और उसे अल्प विकसित होने का प्रमाण मानते हैं।

विकास और बचत

इसके अतिरिक्त श्री ग्रीनस्पैन का यह सिद्धांत कि विकास लोगों को कम बचत करना सिखाता है, आंग्ल-सेक्सन देशों, यथा अमेरिका, यू.के. और ऑस्ट्रेलिया के अलावा किसी अन्य देश से मेल नहीं खाता है, क्योंकि इन्हीं देशों में बचत ऋणात्मक है। फिर उनकी यह धारणा भी जापान या सिंगापुर और हांगकांग जैसे विकसित देशों के संदर्भ में ठीक नहीं बैठती कि विकसित देशों के साख-पत्र उपभोक्ताओं को अपनी आय से अधिक खर्च करने योग्य बनाते हैं, क्योंकि इन देशों में न केवल आय ज्यादा है, बल्कि बचत का स्तर भी काफी ऊँचा है।

विकास नहीं, कुछ और ही है, जिसके कारण लोग बचत कम करते हैं या खर्च अधिक करते हैं। उस सूत्र को जानने के लिए यह समझना होगा कि विकसित जापान के लोग सरकार के इस निर्णय के बावजूद बचत क्यों करते हैं कि उनकी 'जमाराशि' पर कोई ब्याज या लाभ 'नहीं' दिया जाएगा? इसके दो कारण हैं। एक कारण है परिवार और दूसरा, सरकार ने परिवार की जिम्मेदारी नहीं ली है।

श्री ग्रीनस्पैन फिर अपना निशाना चूक गए लगते हैं, जब वे कहते हैं कि हाल के दिनों में लंबी अवधि की ब्याज-दरों में कमी का कारण यू.एस. फेड दरें नहीं, बल्कि विश्वव्यापी नकदीकरण है। विश्वव्यापी नकदी—अनिवार्यत: चालू खाता अधिशेष, अर्थात् भिन्न-भिन्न देशों की आरक्षित एवं अल्पकालिक विदेशी मुद्रा निधियाँ—किस तरह दीर्घावधि ब्याज-दरों को नीचे ले आएगी, यह बात स्पष्ट नहीं है।

इसके विपरीत, सच तो यह है कि विभिन्न देशों की विदेशी मुद्रा धारित राशि दीर्घावधि ब्याज-दरों की अपेक्षा अल्पकालिक ब्याज-दरों को अधिक प्रभावित करती है। आँकड़े बताते हैं कि यू.एस. फेड की दरों में परिवर्तन, जैसा कि श्री ग्रीनस्पैन दावा करते हैं, विश्वव्यापी नकदी प्रवाह के अनुकूल नहीं, बल्कि उसके विपरीत रहा है। विशिष्ट मुद्राओं में घोषित विश्वव्यापी विदेशी मुद्रा की आरक्षित राशि सन् 2001 की पहली तिमाही में 1.5 लाख करोड़ डॉलर थी, जो सन् 2007 की दूसरी तिमाही में बढ़कर 3.65 लाख करोड़ डॉलर हो गई, इससे पता चलता है कि छह वर्षों में नकदी-निधि में 142 प्रतिशत की जबरदस्त बढ़ोतरी हुई और साल-दर-साल 15 प्रतिशत की वृद्धि भी।

विश्वव्यापी विदेशी मुद्रा में डॉलर

यदि फेड की ब्याज-दरें प्रवाह के अनुकूल होतीं, तो नकदी में बढ़ोतरी के साथ उनमें गिरावट होनी चाहिए थी। इसके विपरीत, फेड ने इस अवधि में पहले तो दरों में कटौती की, फिर ब्याज-दर को बढ़ा दिया। यू.एस. फेड की ब्याज-दर, जो सन् 2001 के आरंभ में 6 प्रतिशत थी, उसे सन् 2002 में एकदम घटाकर 1.25 प्रतिशत कर दिया गया और सन् 2003 में यह ब्याज-दर 1 प्रतिशत रह गई। इस कटौती के फलस्वरूप विश्व स्तर पर विदेशी मुद्रा आरक्षित निधि में डॉलर की हिस्सेदारी, जो सन् 2001 में 72 प्रतिशत थी, घटकर 67 प्रतिशत रह गई।

यह गिरावट उस समय देखी गई जब विश्वव्यापी नकदी-निधि में प्रतिवर्ष 15 प्रतिशत की वृद्धि हो रही थी। इस गिरावट ने फेड को सन् 2005 की पहली तिमाही में ब्याज-दर धीरे-धीरे 3.25 प्रतिशत तक बढ़ाने के लिए बाध्य कर दिया। लेकिन उस उपाय से भी विश्वव्यापी विदेशी मुद्रा धारित राशि में अमेरिकी डॉलर की हिस्सेदारी की गिरावट रुक नहीं पाई, क्योंकि यह हिस्सेदारी घटकर 65.4 प्रतिशत रह गई और यू.एस. फेड को विवश होकर सन् 2005 की चौथी तिमाही में ब्याज-दर बढ़ाकर 4.25 प्रतिशत करनी पड़ी। इस बढ़ोतरी से अमेरिकी डॉलर का हिस्सा कुछ समय के लिए बढ़कर 70.5 प्रतिशत तक तो पहुँच गया, लेकिन सन् 2006 की पहली तिमाही में फिर घटकर 66.4 प्रतिशत और चौथी तिमाही में उससे भी कम 64.1 प्रतिशत हो गया, बावजूद इसके कि फेड की ब्याज-दर बढ़ाकर 5.25 प्रतिशत कर दी गई थी।

प्रवाह के विपरीत

इसका मतलब था कि यू.एस. फेड की दरें प्रवाह के विपरीत जा रही थीं और अब भी उसके विपरीत हैं, न कि प्रवाह के अनुकूल। दीर्घावधि ब्याज-दरों में गिरावट का उच्च अल्पकालिक नकदीकरण (लिक्विडिटी) से कोई सरोकार नहीं है। इसका संबंध इस सच्चाई से है कि अभीष्ट निवेश, जैसा कि श्री ग्रीनस्पैन का कहना है, अभीष्ट बचत से कम था और इसका परिणाम यह हुआ कि विश्वव्यापी नकदी-निधि में अनपेक्षित वृद्धि होती चली गई।

इतना ही नहीं, आशावादी श्री ग्रीनस्पैन को पक्का यकीन हो गया लगता है कि चूँकि अन्य सभी देशों की 'जोखिम-समायोजिता' ब्याज-दर अमेरिका द्वारा दिए जानेवाले लाभ या प्रतिफल से कम रहेगी। शेष जगत् बचत करेगा और अपने धन को अमेरिकी डॉलरों में निवेश करके रखेगा तथा यह भी कि यह निवेश अमेरिकी खपत और चालू खाता घाटों का वित्त-पोषण करेगा।

लेकिन ऐसा लगता है कि यहाँ वह जापान के उदाहरण को भूल गए हैं, जिसकी शासकीय ब्याज-दर सन् 2001 से सन् 2005 तक 'शून्य' रही है और अब 0.5 प्रतिशत है, जबकि यू.एस. फेड की जोखिम-समायोजित दर 1

प्रतिशत से बढ़कर 5.5 प्रतिशत हो गई, जिससे यह सिद्ध होता है कि जापानी पूँजी ज्यादातर अपने देश में ही रही, जापान से बाहर नहीं गई।

ऐसी प्रत्यक्ष प्रवृत्तियों को अनदेखा कर ग्रीनस्पैन महोदय आगे यह भी कहते हैं कि एक ओर बचत और दूसरी ओर खर्च एवं निवेश से विश्व-स्तर पर संतुलन की स्थिति बन जाएगी। अतएव श्री ग्रीनस्पैन यह कहना चाहते हैं कि अमेरिका को चिंता करने की जरूरत नहीं है, वहाँ के लोग बचत किए बिना खर्च करते रह सकते हैं।

ये सारी बातें अब एक अंतिम प्रश्न की ओर ले जाती हैं, जो ग्रीनस्पैन के सिद्धांत की परस्पर-विरुद्धता में विरोधाभास को प्रकट करती हैं। जैसा कि श्री ग्रीनस्पैन का कहना है, यदि अल्पविकसित देश, जो बचत करते हैं और अमेरिका को उधार देते हैं, विकसित हो जाने के बाद बचत करना बंद कर देंगे, उस दशा में फिर कौन बचत करेगा और अमेरिका की खपत एवं चालू खाता घाटों की भरपाई यानी उनका वित्त-पोषण कौन करेगा?

□

अमेरिकी संघ (यू.एस. फेड) : एक रहस्यमय पहेली, जिसकी दुनिया द्वारा चौकसी जरूरी

अमेरिकी संघीय रिजर्व व्यवस्था (दि यू.एस. फेडरल रिजर्व सिस्टम) जो नीतियाँ बनाती है, वे अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम से निरूपित होती हैं। फेड और अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

फेड का कोई भी नीतिपरक कदम अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम को प्रभावित करता है और उससे प्रभावित होता है। अमेरिका का केंद्रीय बैंक अपने दस्तावेज 'फेडरल रिजर्व इन इंटरनेशनल स्फिअर' में इसी आधार पर अपनी विश्वव्यापी प्रतिष्ठा एवं अपने प्रभाव का दावा करता है।

फेड का यह दावा खोखला नहीं है। इसके लिए किसी नीति विवरण की आवश्यकता नहीं है, विश्व घटनाक्रम के निरूपण के लिए टी.वी. पर उसकी एक झलक ही काफी होती है। उदाहरण के लिए श्री एलन ग्रीनस्पैन ने जब अपनी टिप्पणी 'बेतुका उल्लास' द्वारा यह जतलाया कि जापानी शेयर अधिमूल्यांकित हैं, तो उनकी इस टिप्पणी से 6 दिसंबर, 1996 को एक दिन में ही निक्की सूचकांक 3.2 प्रतिशत नीचे आ गया।

लेकिन जब फेड विश्व को प्रभावित करता है, तब क्या यह समस्त विश्व के हित में काम करता है? इसके विपरीत, जैसा कि उक्त दस्तावेज में दावा किया गया है, फेड के कार्य अमेरिकी अर्थव्यवस्था के मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से निर्धारित किए जाते हैं, न कि विश्व अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखकर। फिर भी आश्चर्य की बात है, इस संस्था या इसकी नीतियों व कार्यों पर विश्व ने कोई निगरानी नहीं रखी है।

विश्वव्यापी चौकसी

यू.एस. फेड पर विश्वव्यापी चौकसी रखना क्यों अपरिहार्य है, इसके कुछ अन्य कारण भी हैं। अब जरा तीन अन्य प्रमुख केंद्रीय बैंकों के स्वामित्व पर नजर डालें। जर्मनी का बुंदेस्बैंक और यू.के. का बैंक ऑफ इंग्लैंड, दोनों पूरी तरह राजकीय स्वामित्व के अधीन हैं। बैंक ऑफ जापान के अधिकांश अर्थात् 55 प्रतिशत शेयर जापानी सरकार के पास हैं।

क्योंकि कोई भी केंद्रीय (सेंट्रल) बैंक मुद्रा छापने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, इसलिए सभी केंद्रीय बैंक अनिवार्यत: सरकारी स्वामित्व के अधीन होते हैं।

इसके विपरीत, यू.एस. फेड न तो सरकारी है और न ही निजी स्वामित्व में। जैसा कि किसी ने कहा है, यह 'निजी बैंकों का एक उद्योग संगठन' है। इसका गठन इस ढंग से किया गया है, ताकि अमेरिकी सरकार का इस पर न्यूनतम नियंत्रण रहे।

फेड, जो डॉलर छापने का काम करती है, एक स्व-वित्तीय संस्था है अर्थात् फेड अपना वित्त-पोषण स्वयं करती है। इसे कांग्रेस से किसी वित्तीय सहायता की न तो जरूरत होती है और न ही ऐसी कोई सहायता इसे प्राप्त होती है। फेड पर इतना ही नियंत्रण है कि इसके 7 सदस्यीय अध्यक्षमंडल की नियुक्तियाँ करने का अधिकार राष्ट्रपति के पास है।

फेड का गठन

फेड के बोर्ड के सदस्यों का कार्यकाल 14 वर्ष का होता है, जबकि अमेरिका के राष्ट्रपति के कार्यकाल की अवधि मात्र 4 वर्ष होती है और अमेरिकी कांग्रेस के सदस्य का कार्यकाल केवल 2 वर्ष।

इसके अतिरिक्त यदि कोई आकस्मिक रिक्ति को भरने के लिए नियुक्ति की जाती है, तो फेड सदस्य को उस रिक्ति का असमाप्त कार्यकाल बोनस के रूप में मिलता है।

फेड बोर्ड में खाली पद को भरने, लेकिन सीधे अध्यक्ष नियुक्त किए जाने के फलस्वरूप श्री ग्रीनस्पैन 28 साल तक उस पद पर जमे रहे। अपने पद पर रहते हुए उन्होंने अमेरिका के तीन राष्ट्रपतियों को विदा किया है।

इसके अलावा कोई भी राष्ट्रपति फेड के गठन में परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि इसके सदस्यों की नियुक्ति इस ढंग से की जाती है कि बोर्ड के दो से अधिक सदस्य एक साथ सेवानिवृत्त न हों। फेड बोर्ड का सदस्य नियुक्त हो जाने के बाद किसी भी सदस्य को, बिना किसी विशेष कारण के, राष्ट्रपति द्वारा हटाया नहीं जा सकता, वे स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।

यह कहानी यहीं से धुँधली होनी शुरू होती है। फेड 12 क्षेत्रीय रिजर्व बैंकों के जरिए काम करता है, जिन्हें जिला बैंक कहा जाता है। इन 12 फेड बैंकों में से एक सबसे अधिक शक्तिशाली बैंक, जिसे फेड की रीढ़ माना जाता है, फेडरल रिजर्व बैंक ऑफ न्यूयॉर्क है।

परिसंपत्तियों के हिसाब से यह सबसे बड़ा है। फेड की ओर से इसे खुले बाजार में कार्य-व्यापार करने, यानी अमेरिका की सरकारी प्रतिभूतियों (यू.एस. ट्रेजरी सिक्योरिटीज) और विदेशी मुद्रा खरीदने-बेचने के एकाधिकारी अधिकार प्राप्त हैं। इसका चेयरमैन फेड की अत्यधिक शक्तिशाली समिति 'खुला बाजार काररवाई समिति' (ओपन मार्किट ऑपरेशंस कमेटी) का स्थायी सदस्य होता है। फेड के सन् 2003 में दर्ज किए गए 3.1 लाख करोड़ डॉलर के दैनिक वित्तीय एवं प्रतिभूति संबंधी लेन-देन में से 2.4 लाख करोड़ डॉलर अथवा 77 प्रतिशत से अधिक का कारोबार इसी ने किया था। यदि और पीछे मुड़कर देखें, तो हम पाते हैं कि सन् 1927 में, विश्व की तमाम आरक्षित स्वर्ण निधि (गोल्ड रिजर्व) का 10 प्रतिशत इसके पास था।

लेकिन इस महाबली न्यूयॉर्क बैंक का मालिक कौन है? न्यूयॉर्क बैंक सूचीबद्ध नहीं है और अमेरिकी कानून के अनुसार इसे अपनी शेयरधारिता घोषित करने की आवश्यकता नहीं है। अत: इसके शेयरधारक कौन हैं, यह एक रहस्य बना हुआ है।

न्यूयॉर्क बैंक के बारे में विभिन्न अध्ययनों द्वारा दावा किया गया है कि लंदन के रॉथ्सचाइल्ड बैंक, लाजार्ड ब्रदर्स बैंक ऑफ पेरिस, इजराइल मोजेज सैफ बैंक्स ऑफ इटली, वारबर बैंक ऑफ न्यूयॉर्क, कुहन लोएब बैंक ऑफ न्यूयॉर्क, चेस मैनहट्टन बैंक ऑफ न्यूयॉर्क और गोल्डमैन सैश बैंक ऑफ न्यूयॉर्क जैसे सभी निजी बड़े वित्तीय बैंकों ने न्यूयॉर्क बैंक में अधिकांश शेयर लिये हुए हैं। उक्त अध्ययनों के इन दावों का खंडन नहीं किया गया है।

न्यूयॉर्क बैंक के बोर्ड का चुनाव उसके सदस्यों द्वारा किया जाता है और हर सदस्य का एक वोट होता है। यहाँ एक सवाल उठता है, जिसका जवाब दशकों से नहीं दिया गया—क्या न्यूयॉर्क बैंक एक सार्वजनिक उद्यम है?

न्यूयॉर्क बैंक के एक हजार से अधिक सदस्य बैंकों में उनके निवेश के निरपेक्ष प्रत्येक का एक ही वोट होता है। न्यूयॉर्क बैंक के निजी नियंत्रण के विरुद्ध यही एकमात्र सुरक्षा बताई जाती है। लेकिन किसी ने नहीं कहा है सदस्य बैंक एक-दूसरे से असंबद्ध या अलग हैं।

उद्‌गम

यू.एस. फेड की यह पहेली उसके जन्म के रहस्य में लिपटी हुई है। 'फोर्ब्स' पत्रिका के संस्थापक बर्टी चार्ल्स फोर्ब्स ने फेडरल रिजर्व ऐक्ट पास हो जाने के तीन साल बाद, सन् 1916 में यह खुलासा किया कि प्रभावशाली वित्तीय हितों के प्रतिनिधि जे.पी. मोरगन रॉकफैलर, वारबर्ग और एक सीनेट सदस्य नेल्सन आल्ड्रिच सन् 1910 में जार्जिया के जैकिल आइलैंड में गुप्त रूप से मिले। उन्होंने वहाँ यू.एस. फेडरल रिजर्व सिस्टम स्थापित करने संबंधी विधेयक का प्रारूप तैयार किया। इसके बीस साल बाद, सन् 1935 में जैकिल आइलैंड में रॉकफैलर प्रतिनिधि फैंक वैंडरलिप ने अपनी आत्मकथा 'फ्रॉम फार्मबॉय टू फाइनेंसिअर' में स्वीकार किया, 'मैं उतना ही गोपनशील, वास्तव में उतना ही रहस्यमय एवं धूर्त था, जितना कोई भी षड्‌यंत्रकारी होता है। यदि यह बात उजागर हो जाती कि हमारे समूह ने कहीं मिलकर एक बैंकिग विधेयक का मसौदा तैयार किया था, तो कांग्रेस कभी भी उसे पास नहीं करती। अब यदि मैं कहूँ कि जैकिल आईलैंड में हमारा गुप्त अभियान वह अवसर था, जिसने वास्तव में उस सपने की नींव रखी, जिसके गर्भ से अंतत: फेडरल रिजर्व सिस्टम का जन्म हुआ, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।' इसके अलावा वारबर्ग उस विधेयक के लेखक थे, जो अंत में फेडरल रिजर्व ऐक्ट बना।

गुप्त बैठक ने उस आल्ड्रिच योजना का अनुमोदन किया, जिसे पहले वाल स्ट्रीट का एक षड्‌यंत्र कहकर, विशेषकर इस वजह से बदनाम और खारिज किया गया था, क्योंकि इसकी संकल्पना सीनेटर आल्ड्रिच ने की थी, जिसकी पुत्री का विवाह जॉन डी. रॉकफैलर से हुआ था।

फिर भी फेड की स्थापना ठीक उसी रूप में हुई, जैसा जैकिल आइलैंड समूह ने चाहा था। राष्ट्रपति बुडरो ने स्वयं फेड व्यवस्था को '60 से 70 प्रतिशत तक सही' कहा, उससे अधिक नहीं।

विल्सन के कानून ने फेड को अमेरिकी डॉलर छापने का वह अधिकार दिया जो आज विश्व पर छाया हुआ है, लेकिन अमेरिकी राजकोष को छोटे सिक्के ढालने से ही संतुष्ट रहने को कहा, ताकि उन सिक्कों से अमेरिकावासी कोक और कॉफी खरीद सकें। अमेरिकी राजकोष को डॉलर छापने के दो ही अवसर मिले, एक फेड के जन्म से पहले और दूसरा उसके अस्तित्व में आने के बाद।

सन् 1862 में, जब बैंकरों ने युद्‌ध के लिए कर्ज देने पर 36 प्रतिशत तक ब्याज माँगा, तो अब्राहम लिंकन को एक विशेष कानून पास करना पड़ा, ताकि अमेरिकी गृहयुद्‌ध के वित्त-पोषण हेतु 45 करोड़ डॉलर की मुद्रा छापी जा सके। वह मुद्रा पीठ की तरफ हरे रंग की थी और इसीलिए आज भी डॉलर को 'ग्रीनबैक' पुकारा जाता है।

एक शताब्दी बाद, जॉन एफ. केनेडी ने अमेरिकी राजकोष को 4.3 अरब डॉलर छापने के लिए प्राधिकृत करने हेतु राष्ट्रपति आदेश सं. 11110 (4 जून, 1963) जारी किया।

4.3 अरब डॉलर की इस मुद्रा को मिलाकर अब तक करीब 800 अरब डॉलर अमेरिका द्‌वारा छापे जा चुके हैं, जो परिचालन में हैं। उसमें से 99 प्रतिशत से अधिक की मुद्रा फेड से छपकर आई है।

अनुमानों से पता चलता है कि छापी गई 800 अरब डॉलर की मुद्रा का करीब दो-तिहाई अमेरिका के बाहर के देशों में जमा है। दूसरे देशों में डॉलर की ये जमा राशियाँ विदेशी मुद्रा के रूप में बढ़ते-बढ़ते 3.8 लाख करोड़ डॉलर तक पहुँच गई हैं।

आज स्थिति यह है कि डॉलर में अन्य देशों की हिस्सेदारी (और इस बात को देखते हुए कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था कैसे नियंत्रण में है) यदि अधिक नहीं तो अमेरिकियों के हिस्से के बराबर तो हो ही गई है।

कोई विकल्प न होने के कारण आज डॉलर विश्व की बाकीदारी मुद्रा (डिफॉल्ट ग्लोबल करेंसी) बन गया है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि फेड विश्व बाजार को इसलिए भी प्रभावित कर पाता है, क्योंकि उसके पास डॉलर छापने, डॉलर की अधिक पूर्ति करने की क्षमता है और उसकी ब्याज-दर तय करने का अधिकार है। वास्तविक अर्थ में यह एक वैश्विक केंद्रीय बैंक बन गया है।

इस प्रकार एक गूढ़ यू.एस. फेड, जिसका जन्म रहस्यमय ढंग से हुआ और जिसके सरकारी स्वरूप के बारे में अभी भी अनेक अनुत्तरित प्रश्न लटके हुए हैं, वास्तव में विश्व का केंद्रीय बैंक है।

यू.एस. फेड किस तरह विश्व का वास्तविक केंद्रीय बैंक है? विश्वव्यापी मुद्रा के रूप में डॉलर को लेकर यह विश्व अर्थव्यवस्था को कैसे प्रभावित करता है और यू.एस. फेड के ऊपर विश्व की निगरानी अथवा चौकसी सभी के हित में क्यों है?

मौद्रिक अर्थशास्त्र के प्रथम सिद्धांत छात्रों को यह बताते हैं कि केंद्रीय बैंक किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण क्यों होते हैं। केंद्रीय बैंक धन के रूप में ऐसी सार्वजनिक मुद्रा का निर्माण करते हैं, जिसके बिना कोई भी अर्थव्यवस्था काम नहीं कर सकती, अपना मूल्य, अर्थात् ब्याज-दरें निर्धारित नहीं कर सकती।

इन दो मानदंडों को लागू करके क्या यह कहना सही है कि यू.एस. फेड, जो अन्य देशों के केंद्रीय बैंकों को डॉलर की पूर्ति करता है और तय करता है कि यह किस दर पर डॉलर उधार देगा, वास्तव में विश्व का केंद्रीय बैंकर है? विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था में डॉलर की भूमिका इस प्रश्न का उत्तर दे सकेगी। यू.एस. फेड द्वारा किया गया डॉलर, आरक्षित मुद्रा और इनवॉयस (बीजक) बनाने के माध्यम के रूप में, निवेश की मुद्रा के रूप में और विदेशी मुद्रा लेन-देन में अपनी प्रधानता बनाए रखता है।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आइ.एम.एफ.) के सन् 2006 के आँकड़ों के अनुसार, विश्व के विदेशी मुद्रा भंडार का 65 प्रतिशत से अधिक (गैर-यूरो क्षेत्रों में 70 प्रतिशत से भी अधिक) विश्वव्यापी ऋणों का 41 प्रतिशत और विश्व की जमा राशियों का 48 प्रतिशत डॉलर की शर्तों में बँधा हुआ है। अमेरिकी राजकोष की प्रतिभूतियों का 57 प्रतिशत हिस्सा एशियाई देशों और 21 प्रतिशत यूरोपीय देशों के पास है। अमेरिका की 53 प्रतिशत शेयर-पूँजी यूरोपीय देशों के पास, 26 प्रतिशत पश्चिमी गोलार्ध के देशों के पास और 18 प्रतिशत एशियाई देशों के पास जमा है।

दि बैंक ऑफ इंटरनेशनल सेटलमेंट का कहना है कि समस्त विदेशी मुद्रा लेन-देन का 43 प्रतिशत डॉलर में होता है। डॉलर में विश्व व्यापार की भी ऐसी ही स्थिति है। ओपेक तेल की बिक्री डॉलर में ही करता है। मुद्रा की हैसियत से डॉलर राष्ट्रीय मुद्रा की अपेक्षा विश्वव्यापी मुद्रा अधिक है और यह भी कि केंद्रीय बैंक के रूप में यू.एस. फेड अमेरिका के बजाय विश्व का केंद्रीय बैंक अधिक है—यह बात इस एक तथ्य से स्पष्ट हो जाती है। यू.एस. फेड ने अपने आरंभ होने के समय अर्थात् सन् 1913 से अब तक 300 बिलियन डॉलर की जो मुद्रा जारी की है, उसका एक-तिहाई से भी कम हिस्सा अमेरिका में रहता है, जबकि दो-तिहाई से अधिक अमेरिका से बाहर भेज दिया जाता है।

यह उस बात की भी पुष्टि करता है, जो पहले खाड़ी युद्ध के बाद लगभग 15 वर्ष पहले, 'दि इकॉनामिस्ट' पत्रिका ने मजाकिया तौर पर लिखी थी कि डॉलर छापने का काम अमेरिका का सबसे लाभदायक व्यवसाय बन गया है। अत: ऐसा लगता है कि गैर-अमेरिकियों को अमेरिका और बाहर के देशों के साथ व्यापार करने के लिए डॉलर की जरूरत उन अमेरिकियों से अधिक होती है, जिन्हें अमेरिका में और अमेरिका के बाहर खर्च करने के लिए डॉलर चाहिए होते हैं।

डॉलर इस केंद्रीय भूमिका में कैसे आया? ब्रेटन वुड्स नियम के कारण 1950 के दशक में डॉलर आधिकारिक

तौर पर विश्वव्यापी मुद्रा बना। लेकिन सन् 1971 में उस सूत्र के विफल हो जाने के बाद, डॉलर ने अपना आधिकारिक दरजा खो दिया। लेकिन किसी विकल्प के अभाव में यह वस्तुत: विश्वव्यापी वैध मुद्रा बन गया।

सन् 1991 में शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही अमेरिका पर से वे सभी आर्थिक, राजनीतिक और सामरिक प्रतिबंध एवं दबाव हट गए जो शीतयुद्ध के चलते उस पर लगे थे। इसके अलावा अमेरिका एक अद्‌वितीय विश्वव्यापी शक्ति के रूप में उभरा। संभवत: उन विद्‌वानों पर विश्वास करके, जिन्होंने राय दी कि पश्चिम—अर्थात् अमेरिका—ने शेष जगत् पर अंतत: जीत हासिल की है, अमेरिका, विशेषकर यू.एस. फेड ने बढ़-चढ़कर बोलने का रास्ता अपना लिया।

वैश्वीकरण, उदारीकरण

इस बात से कायल होकर कि उसके आदर्श की अंतत: जीत हुई है और विश्व स्तर पर प्रभाव रखनेवाले निगमों यानी बड़ी-बड़ी कंपनियों के उकसाने पर अमेरिका जोर-शोर से अपनी अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण और उदारीकरण के रास्ते पर चल पड़ा। इसने न केवल अपनी ओर से, बल्कि विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.), अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.), वर्ल्ड बैंक तथा अन्य के जरिए दूसरे देशों पर दबाव इस बात के लिए डालना शुरू कर दिया कि वे भी अमेरिकी तर्ज पर उदारीकरण करें।

अमेरिका ने व्यापक स्तर पर उदारीकरण को अपनाया, अधिकतर घरेलू बाध्यताओं के विषय में। अमेरिकी सरकार ने अपने बाजार खोल दिए, शुल्क-दरों में कटौती की और सस्ते आयातों को प्रोत्साहित किया।

इसके अनुरूप यू.एस. फेड ने ब्याज-दर घटा दी, ज्यादा डॉलर छापे। इसने सन् 1996 से 2007 तक 12 सालों में अतिरिक्त 400 बिलियन डॉलर छापे, यह संख्या सन् 1995 तक 82 वर्षों के दौरान छापे गए कुल डॉलर की संख्या से अधिक थी। इसके पीछे धारणा यह थी कि अमेरिकी घर-परिवारों को सस्ता धन मुहैया कराया जाए, ताकि वे सस्ते आयातों के जरिए लाई गई वस्तुओं को खरीद सकें। इस मिले-जुले कार्यक्रम का जबरदस्त असर हुआ। जैसे ही यू.एस. फेड ने सन् 1990 से चली आ रही 8 प्रतिशत की ब्याज-दर को सन् 2001 में घटाकर 1 प्रतिशत किया, अमेरिकी परिवारों ने अपनी आय से अधिक व्यय करना शुरू कर दिया और उनके क्रेडिट कार्ड संबंधी ऋण, जो सन् 1990 में 338 बिलियन डॉलर थे, सन् 2007 में बढ़कर 2.46 लाख करोड़ डॉलर तक पहुँच गए और उनकी बचत सन् 1990 में 9 प्रतिशत की तुलना में सन् 2006 में नकारात्मक हो गई।

अमेरिका के चालू खाते का घाटा सन् 1990 से 1999 तक पूरे दस वर्ष की अवधि में कुल 300 बिलियन डॉलर था, जो सन् 2000 से 2004 तक सिर्फ पाँच वर्ष में उससे बढ़कर 2.5 लाख करोड़ डॉलर हो गया। नतीजा ऋणग्रस्त अमेरिकी सरकार और ऋणग्रस्त अमेरिकी परिवार।

डॉलर का खेल

डॉलर के खेल का अनवरत चक्र इस प्रकार है। यू.एस. फेड ब्याज-दरों में बार-बार कटौती करता है और अमेरिकी परिवार बचत करना कम कर देते हैं और फिर बचत करना एकदम बंद कर देते हैं। फेड का काम सिर्फ अंकीय प्रणाली से डॉलर छापना और अधिक-से-अधिक डॉलर सप्लाई करना है, ताकि घर-परिवार कर्ज ले सकें और बड़े-बड़े बाजारों, शापिंग सेंटरों में जाकर खर्च कर सकें। ये माल्स चीन व अन्य देशों से वस्तुओं का आयात करते हैं और फिर उन्हें अमेरिकी परिवारों को बेचते हैं। यू.एस. फेड द्‌वारा छापे गए और अमेरिकी परिवारों को

उधार दिए गए डॉलर इस प्रकार क्रेडिट कार्डों के जरिए उन देशों के पास चले जाते हैं जो अमेरिका को निर्यात करते हैं।

फेड बाहर जानेवाले डॉलरों को, विदेशी सरकारों से डॉलर उधार लेकर वापस ले आता है, ताकि चालू खाता घाटों को पाटा जा सके। यू.एस. फेड द्वारा लिया गया यह उधार विदेशी सरकारों को माकूल लगता है, जो इस भय के कारण कि कहीं उनको भी उसी स्थिति का सामना न करना पड़े, जैसी 1997 में पूर्व एशिया को भुगतनी पड़ी थी, अपनी-अपनी मुद्रा की रक्षा करने के लिए डॉलर की शक्ल में अधिक-से-अधिक पूँजी भंडार बनाए रखने के लिए विवश हैं।

इस प्रकार, यू.एस. फेड ने एक ऐसे विश्वव्यापी वित्तीय ढाँचे को खड़ा किया है और सहारा दिया है, जिसके द्वारा एक अलिखित 'सुरक्षा नियम' अन्य देशों के केंद्रीय बैंकों पर इस आशय से लागू कर दिया गया है कि वे अपनी आरक्षित निधियों को बिलकुल उसी तरह अमेरिकी प्रतिभूतियों में लगाएँ अर्थात् निवेश करें, जैसे सावधिक चलनिधि अनुपात (एस.एल.आर.) के संबंध में रिजर्व बैंक की शर्तों के अनुसार किया जाता है।

3.8 लाख करोड़ डॉलर की वर्तमान आरक्षित निधि सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त है या नहीं, कोई नहीं कह सकता। डॉलर का यह खेल, जिसमें अमेरिका सहित सारा विश्व फँसा है, मधुपात्र में गिरकर फँस गई मधुमक्खी की तरह है। क्या इस विश्वव्यापी वित्तीय ढाँचे को बनाए रखा जा सकता है? एक शब्द में इसका उत्तर है —नहीं।

लेकिन फेड डॉलर के इस खेल को किस तरह देखता है, जिसे बचाए रखना मुमकिन नहीं है। फेड के वर्तमान प्रमुख और 2002 में इसके गवर्नर रहे श्रीबेन बर्नांक ने जो कहा, उससे अधिक वह कह भी क्या सकते थे। उन्होंने कहा, 'अमेरिकी डॉलरों का मूल्य उसी हद तक है जिस हद तक उनकी पूर्ति को कड़ाई से सीमित रखा जाता है। लेकिन अमेरिका के पास एक टेक्नोलॉजी है, जिसे मुद्रण-यंत्र कहा जाता है (या आज जो भी इसका इलेक्ट्रॉनिक समतुल्य है) और जिसका प्रयोग करके वास्तव में बिना किसी लागत के मनचाही संख्या में अमेरिकी डॉलर छापे जा सकते हैं।'

संचलन में अमेरिकी डॉलर की संख्या बढ़ाकर या ऐसा करने की सचमुच धमकी देकर अमेरिकी सरकार उन वस्तुओं और सेवाओं के बदले में एक डॉलर का मूल्य घटा भी सकती है। यह उन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों को डॉलर में बढ़ाने के समान है। निष्कर्ष यह है कि कागजी-मुद्रा प्रणाली के अंतर्गत, कोई भी दृढ़-निश्चयी सरकार सदैव अधिक खर्च करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे सकती है और इस तरह वास्तविक मुद्रास्फीति के हालात उत्पन्न कर सकती है।

इस विवरण का संदर्भ यह था कि उस समय फेड की ब्याज-दर 1.25 प्रतिशत थी तथा इसमें और अधिक कटौती की कोई गुंजाइश नहीं थी। अमेरिका में उपभोक्ताओं की खर्च करने की प्रवृत्ति को बनाए रखने या बढ़ाने के उद्देश्य से श्री बर्नांक का डॉलर के मूल्य-ह्रस का जोखिम उठाकर भी अधिक डॉलर छापने का विचार फेड के उसी कार्य की पुष्टि या समर्थन करता है, जो यह सन् 1995 से करता रहा है, और उसी का परिणाम है कि 3.8 लाख करोड़ डॉलर की राशि अमेरिका के बाहर के देशों में जमा है।

पर क्या श्री बर्नांक को इस बात की परवाह थी कि जिन देशों के पास इतनी विशाल राशि जमा है, उनको डॉलर के मूल्य में कमी करने की धमकी देने के क्या परिणाम हो सकते हैं? वास्तव में उनको इसकी चिंता नहीं थी। उनका आदेश केवल 'अमेरिकी अर्थव्यवस्था के मूल उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए है,' विश्व अर्थव्यवस्था का

चाहे कुछ भी हो।

निर्णय शक्ति

फेड की काररवाइयों का असर दूसरे देशों पर, उनकी मुद्रा पर, उनके विदेशी मुद्रा भंडार और उनके मूल्यांकन, उनकी ब्याज-दरों और अन्य अनेक मौद्रिक एवं गैर-मौद्रिक विषयों पर पड़ता है। लेकिन यू.एस. फेड ब्याज-दरों के बारे में किस तरह नीति निर्णय करता है? डॉलर छापने या डॉलर छापने की धमकी देने और उसके समय तथा मात्रा के बारे में?

'दि क्रिएचर फ्रॉम जैकिल आइलैंड—ए सेकंड लुक एट दि फेडरल रिजर्व' के लेखक जी. एडवर्ड ग्रिफिन ने फेड के अलेखित, गुप्त निर्णय लेने के संबंध में जो कुछ कहा है, वह इस प्रकार है—'निर्णय गुप्त बैठकों में किए जाते हैं। छह सप्ताह बाद एक संक्षिप्त रिपोर्ट जनता के लिए प्रकाशित कर दी जाती है, लेकिन विचार-विमर्श की प्रतिलिपि नष्ट कर दी जाती है। वह नीति सन् 1970 में आरंभ की गई, जब सूचना की स्वतंत्रता का अधिनियम पास हुआ था। ऐसी गोपनीयता रखने का अधिकार तो सी.आई.ए. के पास भी नहीं है।'

हाउस बैंकिंग कमेटी के सदस्य, कांग्रेसमैन रॉन पॉल का ग्रिफिन की पुस्तक के बारे में यह कहना था कि 'एक उत्कृष्ट विश्लेषण, जिस पर सभी अमेरिकियों को गंभीरता से ध्यान देना चाहिए।' लेकिन असल में पूरी दुनिया का इस पर ध्यान देना जरूरी है।

अमेरिका में राष्ट्रपति के नेतृत्ववाली जो शासन व्यवस्था है, लगता है, उसके पास विश्व की इस अनौपचारिक वित्तीय नियम-निर्मात्री पद्धति में विकृतियों को सुधारने की न तो इच्छा है और न ही पर्याप्त लंबा राजनीतिक कार्यकाल।

इसके ढाँचे पर कोई राजनीतिक नियंत्रण नहीं है। निष्कर्ष: निस्संदेह, यू.एस. फेड पर विश्व की निगरानी जरूरी है, इसके कार्यों पर नजर रखने के लिए विश्व स्तर पर एक प्रहरी नियुक्त किया जाना चाहिए, क्योंकि यह अपने ही घर में किसी को भी जवाबदेह नहीं है, अमेरिकी कांग्रेस को भी नहीं।

□

घर-परिवारों को दिवालिया और

बड़ी कंपनियों को मालामाल बनाने की तरकीब

अमेरिकन टेलीविजन गेम शो 'दि प्राइस इज राइट' पर धन को कई गुणा करने का एक खेल दिखाया जाता है, जिसे 'ग्रैंड गेम' कहा जाता है। इसमें हर रोज 10,000 डॉलर की राशि दाँव पर लगाई जाती है। यह एक जुआ है—मानवजाति का चिर-परिचित प्राचीनतम खेल। ऐसा ही एक खेल और भी है, लेकिन वह खेल आधुनिक है। अमेरिका के लाखों-करोड़ों परिवार इस खेल के शिकार हैं और इसमें लाखों-करोड़ डॉलर दाँव पर लगते हैं। वह यू.एस. फेड नीति द्वारा चलाया गया एक खेल है, जिसमें पहले तो वास्तविक धन को कल्पित धन के रूप में कई गुणा किया जाता है और फिर इसे वास्तविक, लेकिन उधार लिये गए धन के बदले गिरवी रखकर बहुगुणित कल्पित धन को वास्तविक धन में बदल दिया जाता है।

इस नए खेल का एक और पहलू है। 'ग्रैंड गेम' में जो खिलाड़ी अपना धन दाँव पर लगाता है, वह बहुत कुछ जीत सकता है या लगाई गई अपनी बाजी हार सकता है, लेकिन फेड के धनवर्धक खेल में मैच का फैसला पहले से ही तय होता है। अपना धन दाँव पर लगानेवाले खिलाड़ी, यानी अमेरिकी परिवार को हारना ही होता है, और किसी अन्य—जीत के लिए पहले से ही चुनी गई—अमेरिकी कंपनी—को अवश्य ही जीत हासिल होती है।

अमेरिका में खेला गया यह खतरनाक खेल सभी अन्य देशों को विश्वव्यापी वित्तीय एकीकरण के एक हिस्से और एक सार्वदेशिक आदर्श या उदाहरण के रूप में पेश किया जा रहा है। प्रत्यक्ष में कहानी यह है कि घर-परिवारों को दिवालिया बनानेवाली और कंपनियों को धनाढ्य करनेवाली फेड नीति के कुचक्र को किस प्रकार आधुनिक अर्थशास्त्र के उत्तम एवं परिष्कृत उद्देश्य के रूप में आगे बढ़ाया जाता है।

पिछले दशक में, विशेषकर 1990 के दशक के आरंभ में वैश्वीकरण की शुरुआत के साथ ही लगता है यू.एस. फेड ने अमेरिकी परिवारों के धन को सँभालने के लिए कंपनियों को मुख्य माध्यम के रूप में चुन लिया था। अमेरिकी कंपनियों के बारे में बैंक के लिए तर्काधार शायद यह था कि परिवार अपने धन, अपनी धन-संपत्ति, को दोगुना-चौगुना नहीं कर सकते, जबकि कंपनियाँ कर सकती हैं।

धन बहुगुणित करनेवाले

सामान्य गृहस्थ धन की सिर्फ बचत करते हैं, उसमें कई गुणा वृद्धि करने के बारे में नहीं सोचते। लेकिन कंपनियाँ जानती हैं कि धन को दुगुना-चौगुना कैसे किया जाता है। धन को बहुगुणित करने की यू.एस. फेड नीति-संचालित जॉन मेनार्ड केन्स द्वारा प्रतिपादित की गई यह योजना वास्तविक, न कि कल्पित धन गुणक योजना से बहुत अलग थी। नए खेल या कहें कि नई चाल की लघुकथा अब शुरू होती है।

मान लो कि फेड की ब्याज-दर 10 प्रतिशत है और यह कि उस दर पर अमेरिकी परिवार 400 बिलियन डॉलर बचाने की क्षमता रखते हैं। 400 बिलियन डॉलर की यह राशि कोई काल्पनिक संख्या नहीं है। यदि अमेरिकी परिवारों की बचत का हिस्सा कुल का 80 प्रतिशत जारी रहता, जैसा कि सन् 1980 के आरंभ में था, तो फेड की 10 प्रतिशत ब्याज-दर के हिसाब से इस बचत की रकम सन् 2006 में 400 बिलियन डॉलर हो जाती, ठीक वैसे ही जैसे सन् 1980 के दशक में हमने माना। उस स्थिति में अमेरिकी परिवारों ने 400 बिलियन डॉलर की अपनी इस

बचत का अधिकांश हिस्सा सुरक्षित एवं निश्चित दर के निवेशों में रखा होता।

कहानी का अगला अंक अब शुरू होता है। फेड दर ब्याज-दर में कटौती करता है और मान लो, ब्याज-दर को 1 प्रतिशत या 2 प्रतिशत कर दिया जाता है, जो दर सन् 2002 से 2004 तक था—तो इसका मतलब होगा बचत करनेवालों को दूर करना और खर्च करनेवालों को न्योता देना। अमेरिकन लोग जापानियों की तरह नहीं हैं, जो कोई ब्याज न मिलने पर भी बचत करेंगे। अमेरिकावासी ब्याज की बहुत कम दरों को स्वीकार करने के बजाय बचत की अपेक्षा खर्च करना अधिक पसंद करते हैं। और जो थोड़ा-बहुत वे बचा पाते हैं, उसको वे बैंक में नहीं रखते बल्कि बड़ी कंपनियों के शेयरों में निवेश करते हैं, ताकि जोखिम के बावजूद अधिक लाभ मिल सके। पेंशन तथा अन्य निधियों के जरिए उनकी अप्रत्यक्ष बचत का अधिकांश हिस्सा भी शेयरों में निवेश हो जाता है।

अमेरिका सरकार द्वारा शासन के नियंत्रणाधीन दी जानेवाली सामाजिक सुरक्षा भी घर-परिवारों को संकट की घड़ी के लिए बचाकर रखने की उनकी पारंपरिक आवश्यकता से भी मुक्त रखती है और उन्हें अपनी बचत के साथ जोखिम उठाने लायक बनाती है। अत: फेड की निम्न दर व्यवस्था के चलते परिवारों को बचत करने और बैंक में रखने की आदत ही नहीं पड़ी और इसका नतीजा यह हुआ कि वे जो कुछ बचा पाते, उसे भी बड़े-बड़े बाजारों, शॉपिंग सेंटरों में जाकर खर्च कर देते हैं, जिनके जरिए लोगों का धन कंपनियों के रिजर्व में पहुँच जाता है और उनकी आय में शामिल हो जाता है या उनकी पूँजी में चला जाता है या वाल स्ट्रीट के माध्यम से बाजार पूँजीकरण के रूप में खप जाता है। परिवारों की जेब से निकाला गया धन कंपनियों के जरिए किस तरह बढ़ता है और किसके लाभ के लिए?

शेयरों में निवेश

मान लीजिए कि 200 बिलियन डॉलर या पूर्व उल्लिखित 400 बिलियन डॉलर बचत राशि का 50 प्रतिशत बचतकर्ताओं द्वारा सीधे ही या पेंशन अथवा अन्य निधियों के माध्यम से शेयरों में लगा दिया जाता है और 50 प्रतिशत को उपभोग के खर्च में डाल दिया जाता है। शेयर बाजार में 200 बिलियन डॉलर का नया निवेश होने से शेयरों के मूल्यों और बाजार सूचकांक में उछाल आ जाएगा या कंपनियों की तिजोरियाँ नए स्टॉक में अंशदान की सीमा तक भर जाएँगी। इसके फलस्वरूप बाजार में शेयरों के लिए अतिरिक्त माँग उत्पन्न होगी और इससे शेयर मूल्यों तथा सूचकांक में बढ़ोतरी होगी।

इस तरह शेयरों में नए निवेश से उच्चतर, लेकिन धन में परिवर्तित न किए गए शेयर मूल्यों के रूप में कल्पित धन कई गुणा हो जाता है। फिर 200 बिलियन डॉलर के अतिरिक्त उपभोग से व्यय भी कई गुणा बढ़ जाता है, जिसका श्रेय डॉलर के उच्च संचलन वेग को जाता है। डॉलर के वर्तमान संचलन वेग को देखते हुए, जो 10 या उससे अधिक हो सकता है, यानी एक वर्ष में डॉलर जितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता है—200 बिलियन* डॉलर का खपत व्यय कंपनियों के लिए दस गुणा यानी 2,000 बिलियन डॉलर (200 बिलियन डॉलर × 10) की कुल आय में परिणत हो जाता है।

मान लें कि अगर बिक्री पर 10 प्रतिशत लाभ प्राप्त होता है, तो 2,000 बिलियन डॉलर की कुल आय पर कंपनी का कर-पूर्व लाभ 200 बिलियन डॉलर होगा। चूँकि इसका एक-तिहाई कर भुगतान में चला जाता है, कर-पश्चात् लाभ 133 बिलियन डॉलर होगा। अमेरिका के शेयर बाजार में प्रति शेयर मूल्य-अर्जन अनुपात का अंकगणितीय औसत 16 लिया जाए, तो इसके फलस्वरूप शेयर मूल्यों में 2.133 लाख करोड़ (ट्रिलियन) डॉलर की वृद्धि हो

जाएगी।

अत: शेयर बाजार में पूँजी के रूप में लगाई गई और कंपनियों के लिए आय के रूप में 400 बिलियन डॉलर की धनराशि का एक गुणक प्रभाव होता है, जो कल्पित धन को वास्तविक से कई गुणा बढ़ा देता है। लेकिन इस खेल का चरम बिंदु तो अभी आना है। वास्तविक धन जो कई गुणा कल्पित धन में परिणत होता है, पुन: वास्तविक धन में बदल दिया जाता है, जैसे कि कोई जादुई छड़ी का कमाल हो।

ऐसा परिसंपत्ति मूल्य-आधारित उधार के कारण होता है, जहाँ उधार लेने वाला कल्पित मूल्यों को जमानत के रूप में पेश करता है, ताकि वह उधार ले सके, उपभोग पर अधिक खर्च करने या शेयरों में निवेश करने के लिए ज्यादा कर्ज हासिल कर सके।

इसके फलस्वरूप उधार लिये गए वास्तविक धन का कल्पित धन में गुणन का एक और चक्र, एक और सिलसिला आरंभ हो जाता है। इस गुणन-खेल में कल्पित और वास्तविक मूल्यों के बीच अंतर मिट जाता है। इसका परिणाम होता है—सब-प्राइम संकट तथा वैसा ही कुछ और।

कंपनी नियंत्रण

वास्तविक धन आखिर किसके हाथों में बढ़ता है? उन परिवारों में नहीं, जिनका धन दाँव पर लगा होता है और न ही यह उनके लाभ के लिए होता है। फेड योजना या चाल यह सुनिश्चित करती है कि वह धन-दौलत अमेरिकी कंपनियों के पास और उनके नियंत्रण में ही रहे। आँकड़े बोलते हैं कि सन् 1960 से 1980 तक, राष्ट्रीय बचतों में अमेरिकी परिवारों का हिस्सा 70 प्रतिशत होता था और शेष 30 प्रतिशत कंपनी बचत का था।

सन् 1980 वाले दशक के आरंभ में परिवारों का हिस्सा बढ़कर 80 प्रतिशत से भी अधिक हो गया तथा कंपनी क्षेत्र का हिस्सा केवल 20 प्रतिशत रह गया। यह बात तब की है जब फेड की ब्याज-दरें चोटी पर थीं—अधिकतर 10 प्रतिशत से ज्यादा, ताकि परिवारों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।

मुद्रास्फीति दर 1 प्रतिशत होने के बावजूद फेड ने सन् 1987 में लागू 6-7 प्रतिशत की ब्याज-दरों को सन् 1989 में बढ़ाकर 9 प्रतिशत और उससे भी अधिक कर दिया। सन् 1990 में फेड दर 7-8 प्रतिशत थी, पारिवारिक बचत का हिस्सा 71 प्रतिशत था और कंपनी का हिस्सा 29 प्रतिशत।

बस यहीं से शुरू होती है नई योजना, नई चाल। फेड ब्याज-दरों में धीरे-धीरे कमी करता जाता है और सन् 2002 में ब्याज-दर को मात्र 1 प्रतिशत पर ले आता है। इसके फलस्वरूप पारिवारिक बचत का हिस्सा 71 प्रतिशत से घटते-घटते सन् 2006 में ऋणात्मक हो जाता है, यह 22 प्रतिशत ऋणात्मक रह जाता है। इन ऋणात्मक आँकड़ों से पता चलता है कि अमेरिकी परिवारों ने अपनी आय से 22 प्रतिशत अधिक खर्च किया, जिसका मतलब है कि वे उधार पर जी रहे थे।

इसी अवधि के दौरान कंपनियों की कुल बचत का हिस्सा सन् 1990 में 30 प्रतिशत की तुलना में 2006 में बढ़कर राष्ट्रीय बचत का 122 प्रतिशत हो गया। कंपनी अधिशेष में आया 22 प्रतिशत अतिरिक्त धन का स्रोत प्रत्यक्षत: उस ऋण में है जो परिवारों ने कंपनी वस्तुओं एवं सेवाओं पर खर्च किया है।

वास्तव में, अमेरिकी परिवारों की बचत की जो कुल रकम सन् 1990 में 299 बिलियन डॉलर थी, वह शून्य तक आ गई और फिर सन् 2006 में 112 बिलियन डॉलर के नकारात्मक आँकड़ों तक पहुँच गई। इसके मुकाबले कंपनी बचत, जो सन् 1990 में 123 बिलियन डॉलर थी, सन् 2006 में गगनचुंबी वृद्धि के साथ 512 बिलियन

डॉलर की विशाल राशि तक पहुँच गई।

इस अवधि के दौरान अमेरिकी परिवारों का क्रेडिट कार्डों पर उधार सन् 1987 में 686 बिलियन डॉलर की तुलना में सितंबर, 2006 तक बढ़ते-बढ़ते 2,339 बिलियन डॉलर तक पहुँच गया। नतीजा? सन् 1990 से 2006 के बीच पारिवारिक बचत में 138 प्रतिशत की कमी आई और उनके कर्ज में 341 प्रतिशत की वृद्धि हुई, लेकिन कंपनियों की बचत 416 प्रतिशत बढ़ गई।

इन आँकड़ों का मतलब समझने के लिए किसी विशेषज्ञ की आवश्यकता नहीं है। अमेरिका के लिए और विश्व के लिए इसका क्या अर्थ है, यह अपने आप में एक विषय है। निष्कर्षत: यू.एस. फेड ने अमेरिकी कंपनियों को धनाढ्य बनाने की खातिर अमेरिकी परिवारों को दिवालिया बना दिया है। यह न केवल पारिवारिक धन के साथ, बल्कि परिवार की मूल धारणा के साथ किया जा रहा छल है।

□

3.8 लाख करोड़ डॉलर के

प्रति घंटा अवमूल्यित होते प्रोनोट

पाँच साल पहले 86 अमेरिकी सेंट देकर एक यूरो खरीदा जा सकता था।

आज एक यूरो की कीमत 147 सेंट हो गई है। जब एक परिवार अपनी आय से अधिक व्यय करता है, उसे 'व्यष्टिवादी-आर्थिक व्यवहार' कहते हैं। लेकिन जब वह सार्वजनिक रूप ले लेता है, तो वह 'समष्टिवादी-आर्थिक विषय' बन जाता है। इसका दूसरा कारण यह भी है कि ऐसे देश में घरेलू बचत नहीं होती है और उसे पारिवारिक उपभोग संबंधी आयात के लिए भुगतान करने हेतु बाहरी देशों से उधार लेना पड़ता है।

अमेरिका में यही हुआ है। और यह एक योजना के तहत हुआ, न कि किसी अप्रत्याशित घटना के कारण। श्री एलन ग्रीनस्पैन लगातार 27 साल तक यू.एस. फेड के प्रमुख रहे और इस अवधि में फेड ने वही नीतियाँ बनाईं, जो उपर्युक्त उद्देश्य को पूरा कर सकें। फेड की नीतियों ने घरेलू वस्तुओं की बाध्यकारी खरीद को बढ़ावा देकर आर्थिक शक्ति को परिवारों से छीनकर कंपनियों की झोली में डाल देने का काम किया।

इन नीतियों का सीधा-सीधा असर यह हुआ कि संघीय सरकार को राज्य-संगठित सामाजिक सुरक्षा के जरिए घरेलू जिम्मेदारियों को सँभालना पड़ा। यह एक बड़ी ही दिलचस्प, यहाँ तक कि दिल दहला देनेवाली कहानी है, क्योंकि यू.एस. फेड वास्तव में आज विश्वव्यापी वित्त व्यवस्था के लिए केंद्रीय बैंकर बन गया है, जिसकी नीतियों को अनेक देशों ने अपना लिया है या अपनाने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया गया है। यह भी अपने आप में एक अलग विषय है।

बचत घाटा

आइए देखें, यू.एस. फेड ने किस तरह यह परिणाम हासिल किया। सन् 1981 से सन् 2001 तक 20 साल की अवधि में ब्याज-दरों में बार-बार कटौती करके, ब्याज-दरों को 20 प्रतिशत से 1 प्रतिशत तक लाकर यू.एस. फेड ने परिवारों को जरूरत-बेजरूरत खरीदारी करने का आदी बना दिया। ब्याज-दर 1 प्रतिशत हो जाने से अमेरिकी परिवारों के लिए बचत करना बेमानी हो गया। अत: कोई आश्चर्य नहीं है कि ऐसी स्थिति के चलते उन्होंने अपनी आय से अधिक खर्च करना उचित समझा।

नतीजा? अमेरिकी बचत दर, जो सन् 1970 के दशक में, सकल घरेलू उत्पाद के मुकाबले 18 प्रतिशत थी, सन् 1990 में घटकर पहले तो 9 प्रतिशत पर आ गई, फिर सन् 1996 से 2005 तक 10 साल की अवधि में उसका औसत 2.8 प्रतिशत रह गया, और अंतत: सन् 2006 में यह 0.6 प्रतिशत के ऋणात्मक अंक तक पहुँच गई। ब्याज-दर में भारी गिरावट की प्रवृत्ति ने सीधे ही परिवारों को प्रभावित किया और वे उधार लेकर खर्च करने के आदी हो गए।

अमेरिकी परिवारों का क्रेडिट कार्ड संबंधी कुल उधार सन् 1990 में 338 बिलियन डॉलर था, जब फेड की ब्याज-दरें 8 प्रतिशत के आस-पास थीं। लेकिन सन् 2003 में, जब फेड की दर 1 प्रतिशत हो गई, क्रेडिट कार्डों का उधार बढ़कर 1.5 ट्रिलियन तक पहुँच गया। आज क्रेडिट कार्डों पर कहानी का अंतिम भाग का कुल उधार 2.46 ट्रिलियन डॉलर से अधिक है। इस समय 1.2 अरब क्रेडिट कार्ड उपयोग में हैं। एक औसत अमेरिकन

आदमी 13 हजार के कर्ज में फँसा है। उसके पास नौ क्रेडिट कार्ड हैं और कार्ड की और कर्ज की चार किस्तें देनी होती हैं। उन्हें इस लत से छुटकारा दिलाना बहुत कठिन है। केवल पंद्रह सालों में उसने अपना सारा धन कंपनियों को दे दिया है और वह भारतीय किसानों की तरह कर्ज में डूब चुका है।

वॉल स्ट्रीट की सनक

ब्याज दर में कमी के दूसरे प्रभावों की चर्चा के बिना यह कहानी अधूरी रहेगी। फेड के ब्याज दर में कटौती करने के साथ अधिक-से-अधिक अमेरिकी परिवारों ने बेहतर लाभ के लिए अपनी बचत का पैसा शेयर बाजार में लगाना शुरू कर दिया। 1981 में जब फेड रेट 20 प्रतिशत था, केवल 5.7 प्रतिशत अमेरिकी परिवारों के पास शेयर थे।

1990 में ब्याज दर घटकर 8 प्रतिशत हो जाने पर 25 प्रतिशत परिवार वॉल स्ट्रीट जाने लगे। 2001 में फेड ने ब्याज दर 1 प्रतिशत कर दी तो यह बढ़कर 52 प्रतिशत हो गए, यानी 20 साल में 10 गुना। परिवारों के पास जो शेयर थे, बाजार में उनका मूल्य बढ़ जाने के साथ ही उन परिवारों ने शेयरों के अनवसूले एवं अवास्तविक मूल्यों पर उधार लेकर ज्यादा खर्च करना शुरू कर दिया। यह अप्राप्त परिसंपत्ति आधारित उधार देने और खर्च करने की प्रवृत्ति वर्तमान आय से अधिक खर्च करने का एक और कारण है।

घरेलू मूल्यों में वृद्धि, जैसे कि शेयर मूल्यों में वृद्धि ने भी परिवारों को कर्ज लेने और खर्च करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। इससे अमेरिका में सब-प्राइम संकट उत्पन्न हो गया। अत: ऐसा लगता है कि यू.एस. फेड की उस नीति ने अपना काम पूरा कर दिखाया, जिसका उद्देश्य धन को परिवारों की जेब से निकालकर कंपनियों के हाथों में देना और पारिवारिक जिम्मेवारी को परिवारों से हटाकर सरकार के ऊपर डालना था।

व्यापार उदारीकरण

फेड की आय से अधिक व्यय संबंधी नीति ने घरेलू मुद्रास्फीति का जोखिम उठाया। इसके विरुद्ध जोखिम-मुक्ति के लिए अमेरिकी सरकार को उदारता से आयात करने, आयात शुल्क-दरों में कटौती करने और अमेरिका में विदेशी माल के आयात को सस्ता बनाने का कदम उठाना पड़ा। इस प्रकार व्यापार उदारीकरण एक विश्वव्यापी दायित्व की अपेक्षा अमेरिका की घरेलू बाध्यता अधिक बन गया, भले ही अमेरिका इसे स्वीकार करे या न करे। देय राशि 2.46 लाख करोड़ डॉलर (ट्रिलियन) से ऊपर है और इस्तेमाल किए जा रहे क्रेडिट कार्डों की संख्या 1.2 अरब।

आँकड़े बहुत चौंकानेवाले हैं। सन् 1990 से 1999 तक 10 वर्ष की अवधि में अमेरिका का कुल घाटा 300 बिलियन डॉलर था।

बाद के पाँच साल में, यानी सन् 2000 से 2004 तक की अवधि में ही कुल घाटा 2.5 लाख करोड़ डालर तक पहुँच गया—पिछले दस वर्ष के कुल घाटे के आठ गुणा से भी ज्यादा। मतलब यह कि 2000-2004 तक पाँच वर्ष के दौरान अमेरिका ने अपने चालू खाता घाटे को निपटाने के लिए दूसरे देशों से 2.5 लाख करोड़ डॉलर का कर्ज लिया।

अमेरिकी खपत की फंडिंग

अमेरिका अपने जिस चालू खाता घाटे को सँभालने के लिए विश्व भर की बचत का लगभग तीन-चौथाई उधार लेता है, जबकि उस बचत में दो-तिहाई हिस्सा एशिया का होता है—उस घाटे को विशेषज्ञ लोग मात्र एक 'सार्वभौमिक असंतुलन' मानकर खारिज कर देते हैं। अधिक निकट से देखें तो पता चलता है कि यह अमेरिकी घरेलू असंतुलन है, जो विश्व के संतुलन को बिगाड़ रहा है।

जी हाँ, यह सही है कि आज अमेरिका की खपत विश्व की अर्थव्यवस्था को चलाती है। लेकिन अमेरिकी खपत का निधीयन कौन करता है? वही देश जो अमेरिका को माल बेचते हैं, जैसे कि चीन और जापान, कोरिया और ताइवान, मलेशिया और इंडोनेशिया, हाँगकाँग और सिंगापुर, अंततः भारत भी। उनका डॉलर भंडार अमेरिका को उधार दी गई धनराशि का प्रतीक है, ताकि अमेरिका उनसे वस्तुओं की खरीद कर सके, ठीक वैसे ही जैसे कोई दुकानदार अपने ग्राहकों को धन उधार दे और कहे कि वे उसका माल खरीदें। यह वास्तव में और भी बुरी बात है। यह तो ग्राहक के वचनपत्रों पर अपना माल उधार बेचनेवाले दुकानदार जैसा ही है।

आखिरकार, दूसरे देशों के पास 3.8 लाख करोड़ डॉलर की जो प्रतिभूतियाँ हैं, वे अमेरिका के मात्र वचन-पत्र (प्रो-नोट) ही तो हैं। अतः अमेरिका को जिन देशों ने माल या प्रतिभूतियों का निर्यात किया, उनके हाथ में अब तक जमा हुए 3.8 लाख करोड़ डॉलर के सिर्फ वचन-पत्र हैं। क्या वे अदत्त विक्रेता नहीं हैं, अर्थात् ऐसे विक्रेता जिन्हें भुगतान नहीं किया गया है? उनके पास जमा वचन-पत्रों का मूल्य यूरो, स्वर्ण, तेल और रुपए के मुकाबले में भी हर दिन कम होता जा रहा है।

□

अमेरिका का तरीका जापान और भारत में सफल क्यों नहीं?

पाठ्य-पुस्तक का नियम बताता है कि ब्याज-दर में कटौती के दो परिणाम होते हैं। पहला, यह बचत करनेवाले को निरुत्साहित करती है और खर्च करनेवाले का जोश बढ़ाती है, ताकि बैंकर दु:खी हों और व्यापारी खुशी मनाएँ। दूसरा परिणाम अधिक सूक्ष्म है। नियम बतलाता है कि ब्याज में कटौती केवल ब्याज से जुड़ी बचत में बाधक होती है, लेकिन यह शेयर बाजारों के जरिए जोखिम-उठाऊ बचतों को बढ़ावा देती है। यह कैसे होता है, यह बताने के लिए किसी द्रष्टा की आवश्यकता नहीं है।

निम्न ब्याज-दर के चलते बहुत ही कम लाभ मिलने के कारण बचतकर्ता बेहतर लाभ की आशा में बड़ा जोखिम उठाने को तैयार हो जाते हैं। वास्तव में, निचली ब्याज-दर एक बचतकर्ता को उद्यमी अर्थात् जोखिम उठानेवाला बना देती है। अत: जब ब्याज-दरों में कटौती की जाती है, तब शेयर दलाल व्यापारी की जमात में शामिल हो जाता है। इस प्रकार, दिया गया नियम हमें यकीन करा देता है कि ब्याज-दर में गिरावट के कारण बचत करने और खर्च करने की संभावना को साथ-साथ बढ़ावा मिलता है।

चेतावनी है कि यदि माँग ज्यादा हो जाए और पूर्ति कम रहे, तो निम्न ब्याज-दर मुद्रास्फीति की समस्या उत्पन्न कर सकती है। लेकिन विशेषज्ञों का कहना है कि ब्याज-दर में वृद्धि करके उस संकट से निपटा जा सकता है। अन्यथा उनका कहना है, ब्याज-दरें नीची रहने से सभी के लिए खुशी का माहौल बनता है—बचतकर्ताओं और व्यापारियों के लिए, शेयर का व्यवसाय करनेवाले और उत्पादकों के लिए तथा सबसे ज्यादा तो विश्व भर में कुख्यात उधार लेनेवाली सरकारों के लिए भी। निम्न ब्याज-दर व्यवस्था ने एक समाज यानी अमेरिका के वित्तीय स्वभाव का पुनर्गठन कैसे किया, और क्या इसके अनुभव का सार्वजनीकरण सार्थक होगा, यह आगे की कहानी है।

अमेरिका वह पहली प्रयोगशाला बना, जहाँ निम्न ब्याज के नमूने की परख हुई। यह प्रयोग 1981 के मध्य में शुरू हुआ, जब निम्न स्तरीय फेड फंड टार्गेट रेट 20 प्रतिशत था। यह दर जून 1981 में 14.5 प्रतिशत और उसके बाद सितंबर 1982 में 10 प्रतिशत की दी गई। तब से लेकर आज तक 25 साल की अवधि में, सन् 1983 की दूसरी तिमाही को छोड़कर 10 प्रतिशत की यह सीमा कभी भी भंग नहीं हुई है।

निरंतर काट-छाँट

इसकी तुलना में, यू.एस. फेड ने ब्याज-दरों में इस सामंजस्य के साथ कटौती की कि सन् 1985 और 1990 के बीच यह दर 8 प्रतिशत के नीचे रही, सन् 1989 को छोड़कर, जब ब्याज-दर का आँकड़ा 9 प्रतिशत के आस-पास था। जनवरी 1991 में, फेड दर को घटाकर 6.75 प्रतिशत, फिर दिसंबर 1991 में 4 प्रतिशत और 1992 तथा 1993 में 3.75 प्रतिशत से भी कम कर दिया गया। सन् 1994 में यह 5.5 प्रतिशत या उससे कम और सन् 2000 के आरंभिक दौर में 6.5 के बीच रही।

उसके बाद यू.एस. फेड ने भारी कटौतियाँ कीं। फेड ने 6 प्रतिशत से आरंभ करके लगभग हर महीने ब्याज में कमी की और सन् 2000 के अंत में ब्याज-दर 1.75 प्रतिशत रह गई, फेड दर सन् 2002 एवं 2003 में 1 प्रतिशत और 2.25 के बीच रही तथा सन् 2004 से 2006 के दौरान 2.25 प्रतिशत व 5.25 के बीच। अब यह दर 31 अक्तूबर, 2007 से 4.5 प्रतिशत है।

फेड ने पिछले 27 वर्षों में ब्याज-दर 68 बार घटाई है और 45 बार उसमें वृद्धि की है। लेकिन असल में इसका

प्रभाव यह हुआ कि फेड की ब्याज-दर 20 प्रतिशत से घटते-घटते 1 प्रतिशत पर आ गई और अब यह दर 4.5 प्रतिशत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्न ब्याज आज अमेरिकी व्यवस्था का अपरिवर्तनीय आधार बन गया है।

क्रेडिट कार्डों पर निर्भरता

जानने की बात यह नहीं कि ऐसा कैसे या क्यों हुआ, बल्कि यह है कि निम्न ब्याज ने अमेरिका को क्या दिया? एक बात, दर में कटौती अमेरिकियों को खर्च करने, यहाँ तक कि उधार लेने के लिए उत्साहित करती है। नतीजा, सन् 1980 दशक के मध्य से अमेरिकी परिवार क्रेडिट कार्डों पर अधिक निर्भर रहने लगे। बाद में वे उन्हीं के आसरे जीने लगे।

इस समय लगभग 21 करोड़ अमेरिकी 1.2 अरब क्रेडिट और रिटेल कार्डों का उपयोग करते हैं या कहें कि हर व्यक्ति के पास करीब 6 कार्ड होते हैं। परिणाम—उपभोक्ता ऋण, जो अधिकतर क्रेडिट कार्डों पर था, बहुत अधिक बढ़ गया। सन् 1990 में यह उधार 338 बिलियन डॉलर था, जो सन् 2007 की पहली तिमाही तक बढ़कर 2.46 लाख करोड़ डॉलर हो गया। यह वृद्धि 17 वर्ष से कम अवधि में सात गुणा से भी ज्यादा थी।

आज प्रत्येक कार्ड पर 8562 डॉलर से अधिक का ऋण है। ब्याज-दरों में कटौती ने उन्हें खर्च करने के लिए आकृष्ट किया। क्रेडिट कार्डों ने अमेरिकी लोगों को काउंटर पर नकद भुगतान करने के कष्ट से मुक्त रखकर खर्च करना ज्यादा आसान कर दिया। निम्न ब्याज-दर ने अमेरिकियों को बैंकों से दूर कर दिया और उन्हें वॉल स्ट्रीट में धकेल दिया।

परिणामस्वरूप वित्तीय परिसंपत्तियों में बैंक जमाराशियों का हिस्सा सन् 1978 में 57 प्रतिशत की तुलना में 1995 में घटकर 32 प्रतिशत रह गया और इसी अवधि में पेंशन तथा मुच्युअल फंडों का शेयर-बाजार में निवेश 20 प्रतिशत से बढ़कर 42 प्रतिशत हो गया। पेंशन और मुच्युअल फंडों ने अपनी जमाराशि का 60 प्रतिशत शेयरों में लगाया।

मुख्यत: इन निधियों के जरिए, अमेरिकी परिवारों का वॉल स्ट्रीट शेयरों में निवेश सन् 1980 में 5.7 प्रतिशत की तुलना में सन् 1990 में बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया और सन् 2001 में 52 प्रतिशत तक पहुँच गया। उनके वॉल स्ट्रीट शेयरों की वसूली न गई मूल्यवृद्धि ने उन्हें अवास्तविक दौलत का धनी बना दिया, जिसके आधार पर उन्होंने अपने दैनिक व्यय के लिए उधार लेना शुरू कर दिया।

बाद में यह लत इस हद तक पहुँच गई कि उन्होंने अपने घरों की मूल्यवृद्धि के द्वारा अवास्तविक धन के आधार पर और भी अधिक उधार लेने का रास्ता अपना लिया। इसी के फलस्वरूप बहुचर्चित सब-प्राइम संकट उत्पन्न हो गया है।

इसके अलावा नीची ब्याज-दर बचत के आड़े आने और शेयर मूल्यों में अनवसूली मूल्यवृद्धि से खर्च करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलने के कारण अमेरिका की बचत, जो 1970 दशक के उत्तरार्द्ध में कुल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का लगभग 8 प्रतिशत थी, घटकर नगण्य हो गई। अंतत: सन् 2004 में अमेरिकी बचत सन् 1930 में महामंदी के समय से पहली बार ऋणात्मक हो गई। लेकिन निम्न ब्याज इस विषम कहानी का केवल एक पहलू है।

अमेरिका की सरकार ने कर लगा दिया और उसके बदले में अमेरिकियों को सामाजिक सुरक्षा दे दी। इस प्रकार ऐच्छिक बचत और निवेश का स्थान कर ने ले लिया। इस कदम ने अमेरिकियों को बचत करने और अपनी बचत की देख-सँभाल करने की आवश्यकता से बड़ी राहत पहुँचाई। अमेरिकियों के निजी वित्तीय साधन आज घाटे में हैं।

सार्वजनिक वित्त में सरकार घाटे में है और उस देश का व्यापार संतुलन भी घाटे में है, इस स्थिति के चलते अमेरिका आज विश्व में सबसे अधिक ऋणग्रस्त देश बन गया है, जबकि सन् 1982 में अमेरिका का शुद्ध अंतरराष्ट्रीय निवेश 7 प्रतिशत था। इसका शुद्ध निवेश विदेशी देनदारियों में बदल गया, जिसका स्तर 2.5 लाख करोड़ डॉलर या सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) के 25 प्रतिशत तक पहुँच गया है।

लेकिन असली कहानी तो अब शुरू होती है। जापान ने अमेरिका की नकल की और खपत को बढ़ावा देने के उद्देश्य से ब्याज-दरों में कटौती की। भारत ने निवेश और जोखिम पूँजी को प्रोत्साहित करने के लिए दरों में कमी की। क्या ब्याज-दरों में कटौती का जापान और भारत में वही असर हुआ जो अमेरिका में देखने को मिला? इस संदर्भ में 'दि इकोनॉमिस्ट' पत्रिका की यह रिपोर्ट पढ़ें, जिसमें लिखा है कि जापान की वित्तीय परिसंपत्ति, जो सन् 1990 में 4 लाख करोड़ डॉलर से कुछ अधिक थी, आज तीन गुणा होकर 12.5 लाख करोड़ डॉलर तक जा पहुँची है। इसमें से अधिकांश सुरक्षित है, जोखिमी निवेश नहीं है। जापान ने अपने बचत करने के आदी लोगों को खर्च करने के लिए बाध्य करने की दृष्टि से ब्याज-दरों में नियमित रूप से कटौती की और सन् 1990 में 6 प्रतिशत के आस-पास घूम रही ब्याज-दर को कम करते-करते अंततः 2001 में शून्य (जी हाँ, जीरो) कर दिया और पाँच साल तक यही स्थिति रही।

सन् 2006 में जापान ने ब्याज की दर 0.25 प्रतिशत तय कर दी और फरवरी 2007 में उसे दोगुना यानी 0.5 प्रतिशत कर दिया। इस शून्य या नगण्य ब्याज पर जापानियों की क्या प्रतिक्रिया रही? ब्याज-दरों में भारी कटौती के बावजूद उन्होंने तीन गुणा से भी ज्यादा बचत की।

अमेरिकियों के विपरीत वे न तो बड़े-बड़े शॉपिंग केंद्रों में जाकर कतार में खड़े हुए और न ही निक्की यानी शेयर बाजार की ओर दौड़े। ब्याज-दर शून्य या नगण्य होने के बावजूद उनकी बचत का 56 प्रतिशत सुरक्षित ढंग से जमा है, यानी बैंकों में जमा है और मुद्रा के रूप में है। उनकी बचत का केवल 5.9 प्रतिशत ही शेयरों में लगा हुआ है।

बचत करना उनका मंत्र है

भारतीयों ने भी कुछ ऐसा ही किया। सन् 1996-97 तक भारत सरकार के बंधपत्रों (बांड) पर ब्याज की दर बहुत ऊँची अर्थात् 13 प्रतिशत तक थी। कुछ साल पहले यह ब्याज घटकर उसके आधे से भी कम, यानी 6 प्रतिशत रह गई। फिर भी परिवारों की बचत, जो सन् 1990 के दशक में 18.5 प्रतिशत थी, धीरे-धीरे बढ़कर सन् 2005-06 में 22.3 प्रतिशत तक पहुँच गई। जापानियों की तरह भारतीयों ने भी निम्न ब्याज अर्थशास्त्र के विपरीत व्यवहार किया। इसके अलावा ब्याज-दरों में भारी गिरावट के बावजूद उन्होंने भी जापानियों की भाँति शेयर बाजार की ओर रुख नहीं किया।

सन् 2001-02 में उन्होंने अपनी बचत का केवल 2 प्रतिशत शेयर बाजार में लगाया, जो पहले से आधा था। सन् 2004-05 में यह 2.6 प्रतिशत हो गया। भविष्य के लिए तैयार किए गए आँकड़ों से भी नहीं लगता कि दलाल स्ट्रीट में कोई खास उमंग की लहर आएगी, क्योंकि वर्ष सन् 2012 तक भारतीय अपनी बचत का 4 प्रतिशत से ज्यादा शेयर बाजार में नहीं लगाएँगे। आज से तीन साल आगे तक, सन् 2012 में भी, उनके लिए बचत का सबसे विश्वसनीय माध्यम अल्प बचत ही रहेगा। यह तथ्य भारत और जापान को एक-दूसरे के निकट लाता है, लेकिन दोनों को अमेरिका से दूर रखता है।

मिलन बिंदु

अमेरिकन पद्धति भारत और जापान में विफल क्यों होती है? इसका उत्तर दोनों देशों की पारिवारिक संस्कृति में है। उनके परिवारों का झुकाव आत्मनिर्भरता की ओर होता है, न कि सरकार पर आश्रित रहने की ओर। न ही वे शेयर बाजार-धन आधारित सामाजिक सुरक्षा पाने के लिए बेचैन रहते हैं। बचत और निवेश वे बिंदु हैं जहाँ व्यष्टिवादी और समष्टिवादी अर्थशास्त्र, दोनों का मिलन होता है।

हालाँकि परिवार आधारित समाजों में व्यष्टिवादी आर्थिक व्यवहार संस्कृति और परिवार से प्रभावित होता है, फिर भी राज्य की समष्टिवादी आर्थिक नीतियों पर अमेरिकी नेतृत्ववाली वैश्विक संस्थाओं का प्रभाव पड़ता है, और इस तरह दोनों के बीच एक बेमेल स्थिति बन जाती है। अमेरिका के ब्रुकिंग्स इंस्टीट्यूट में अर्थशास्त्री श्री बॉसवर्थ ने पता लगाया कि बचत की प्रवृत्ति के बारे में एशिया और अमेरिका के बीच वैषम्य विरोधाभास का कारण 'सांस्कृतिक भिन्नता' है।

श्री बॉसवर्थ लिखते हैं कि बचत के संबंध में एशियाई वंशगत दृष्टिकोण रखते हैं, अर्थात् वे अपने परिवारों के लिए और यहाँ तक कि कई भावी पीढ़ियों के लिए भी जीवनपर्यंत धन-संग्रह करते रहते हैं, जबकि अमेरिकी केवल अपनी सेवानिवृत्ति, यानी सिर्फ अपने जीवन के बारे में सोचते हैं, उसके आगे के बारे में बिलकुल भी नहीं। इससे लगभग सारी बात स्पष्ट हो जाती है। तब फिर क्या अमेरिका के स्थान पर भारतीय आर्थिक विवरण उसको अपनी ब्याज प्रणाली, बचत और निवेश संबंधी नीतियों के निर्माण में मार्गदर्शन प्रदान करेगा?

पश्च-लेख

लगता है सन् 2001 से अमेरिका में भी निम्न ब्याज-शेयर बाजार द्वैतवाद बाजार में मंदी के चलते कमजोर सा पड़ने लगा है, क्योंकि शेयरों में अमेरिकी परिवारों का निवेश सन् 2001 में 52 प्रतिशत की तुलना में सन् 2005 में घटकर 47.5 प्रतिशत रह गया है।

इसके अलावा किए गए अध्ययनों में इस सिद्धांत पर भी सवाल किया गया है कि शेयर बाजार पूँजी का आबंटन बैंकों की अपेक्षा अधिक उचित रूप से करता है। इसी के आधार पर शेयर बाजारों का समर्थन किया गया है, लेकिन उन्हीं अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि अमेरिका और ब्रिटेन में शेयर बाजारों द्वारा गैर-वित्तीय क्षेत्रों को आबंटित पूँजी सन् 1970 से 1989 तक की अवधि के दौरान ऋणात्मक रही है। फिर भी अमेरिका शायद दुबारा सोच-विचार न करे।

पर हमें विचार करना होगा।

□

विदेशी मुद्रा संबंधी धोखाधड़ी

'आर्मस्ट्रांग' पलनीसामी तिरुपुर के बुने कपड़ों के विश्वव्यापी केंद्र में एक ठेठ स्वदेशी उद्यमी है। एक किसान का लड़का, जिसने स्कूल के बजाय खेत पर अधिक समय बिताया।

तिरुपुर के अन्य अनेक लड़कों की तरह वह भी प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स में फेल हो गया था। सन् 1960 के दशक के मध्य में उसने तिरुपुर में बुनाईवाले कपड़ों की एक यूनिट में दाखिला ले लिया। बुने कपड़ों के व्यवसाय में यह एक खुला (ओपन-एअर) एम.बी.ए. कोर्स था।

अपने बराबरवाले लोगों की तरह, जल्दी ही उसने भी बुने कपड़े बनाने का अपना काम शुरू कर दिया। उस समय नील ऑर्मस्ट्रांग चाँद पर उतर चुका था। अंतरिक्ष-यात्री का नाम हर किसी के होंठों पर था, तिरुपुर के लोग भी उनमें शामिल थे।

आर्मस्ट्रांग

नए उद्यमी ने अमेरिकी बाजार में जगह बनाने के लिए अपनी बनियानों और टी-शर्टों पर 'आर्मस्ट्रांग' छाप लगा दी। जल्दी ही उसका अपना नाम भी वही पड़ गया। 'आर्मस्ट्रांग पलनीसामी' आज विश्व विख्यात तिरुपुर उद्यमियों का एक उदाहरण है। दो दशाब्दियों में ही तिरुपुर में उसके जैसे बड़े और छोटे सैकड़ों उठ खड़े हुए थे। डॉ. शरद चारी ने अपने बड़े ही श्रमसाध्य शोध लेख 'भ्रात्रीय पूँजी: प्रादेशिक भारत में कृषक-कामगार स्वनिर्मित इनसान और उदारीकरण' (स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) में लिखा है कि तिरुपुर के अधिकतर उद्यमी किस तरह एक ही समुदाय 'काँगू गौंडर' के हैं।

एक समूह के रूप में उनकी भारी प्रगति का वैज्ञानिक आधार यह है: संक्रामक प्रतिस्पर्धात्मक भावना, जिसने उनको समुदाय के अंदर ही दूसरों की नकल और उनके साथ स्पर्धा करने के लिए बाध्य किया। यही भावना व्यावसायिक होड़ और भ्रातृत्व सहयोग के समाज-वैज्ञानिक मिश्रण में परिवर्तित हो गई, जिसके फलस्वरूप तिरुपुर में एक जातीय उद्यम विकास का मॉडल विकसित हुआ।

सामाजिक पूँजी

तिरुपुर उद्यमी इस तरह विकसित हुए: कपास की खेती से कपास की ओटाई तक, ओटाई से कताई तक, कताई से बुनाई तक पहुँचे और अंतत: बुने वस्त्रों के निर्यातक बन गए और उनके बनाए वस्त्रों ने शीघ्र ही दुनिया भर में नाम कमा लिया।

विश्व बैंक ने अपनी विश्व विकास रिपोर्ट-2001 में गौंडर समुदाय का नाम प्रकाशित किया और एक समुदाय—तात्पर्य 'सामाजिक पूँजी'—प्राय: जिसे जाति मान लिया जाता है—की प्रशंसा करते हुए लिखा कि इस समुदाय ने अपनी ही आंतरिक क्षमताओं के बल पर बुने वस्त्र निर्माताओं के रूप में विश्व भर में ख्याति प्राप्त की है।

बैंक ने इस बात का भी पता लगाया कि गौंडरों ने किस प्रकार अपनी बचत को अंदर-ही-अंदर वितरित करने, अपेक्षित पूँजी पाने और जमा करने के लिए अपनी ही परंपरागत व्यवस्था पर भरोसा किया, न कि आधुनिक बैंकों पर।

गौंडर समुदाय के लोगों ने अपने अंदर की उत्कट पारस्परिक स्पर्धा में शामिल होने और तरक्की करने का मार्ग

अपनाया। उद्यमी बनने के लिए उन्हें किसी भारतीय प्रबंध संस्थान (आई.आई.एम.) में जाना नहीं पड़ा।

शरद चारी ने बड़ी मेहनत से तैयार किए गए अपने शोधपत्र में लिखा है कि आर्मस्ट्रांग पलनीसामी जैसे निटवियर निर्माताओं में से दो-तिहाई दसवीं तक या उससे भी कम पढ़े-लिखे हैं, केवल एक-तिहाई ने कॉलेज में शिक्षा पाई और किसी ने भी व्यावसायिक अर्हता या डिग्री प्राप्त नहीं की। यह तथ्य शिक्षा और उद्यमशीलता के बीच उलटा संबंध बतलाता है।

निर्यात विकास

सन् 1985 में तिरुपुर से निटवियर का 15 करोड़ रुपए का निर्यात होता था, जो अब बढ़कर 10,000 करोड़ रुपए तक पहुँच गया है। विदेशी मुद्रा क्षेत्र के उदारीकरण और निर्यात को सस्ता बनाने के लिए रुपए का मूल्यह्रस करने के जोश ने एक दशाब्दी में डॉलर का मूल्य बढ़ा दिया और रुपए का मूल्य करीब 450 प्रतिशत कम कर दिया। इस बदलाव ने तिरुपुर के विकास को तीव्र गति दी।

रुपए के मुकाबले डॉलर जैसे-जैसे मजबूत होता गया, वैसे-वैसे निटवियर के निर्यात में भी वृद्धि होती चली गई। सन् 1991 में डॉलर का मूल्य 13 रुपए होता था, जो सन् 2002-03 में 50 रुपए तक पहुँचा। तदुपरांत डॉलर का मूल्य सभी मुद्राओं के मुकाबले और रुपए के मुकाबले भी कम होने लगा, फिर भी रुपए के मुकाबले यह गिरावट उतनी नहीं थी। इसका श्रेय भारतीय रिजर्व बैंक की रुपए को सस्ता रखने की नीति को जाता है।

सन् 2007 के आरंभिक महीनों में, डॉलर का मूल्य लगभग 44 रुपए था। तब तक तिरुपुर निर्यातकों के लिए सबकुछ अच्छा चल रहा था। लेकिन अप्रैल 2007 के बाद से इतिहास पलट गया। मार्च 2007 में एक डॉलर के बदले जहाँ 44 रुपए मिलते थे, चार माह के अंदर ही डॉलर का मूल्य घटकर 40 रुपए हो गया। इस तरह निर्यातकों को नुकसान उठाना पड़ा।

यदि मार्च 2007 में किसी निर्यातक ने 5 डॉलर प्रति टी-शर्ट के हिसाब से जून 2007 में 100,000 टी-शर्ट सप्लाई करने का ठेका लिया, तो उसका निर्यात बिल 500,000 डॉलर का होगा और माल की सुपुर्दगी पर 44 रुपए प्रति डॉलर के हिसाब से उसे 2.20 करोड़ रुपए प्राप्त होंगे। लेकिन जब जून तक डॉलर घटकर 40 रुपए के समतुल्य रह गया तो निर्यातक को कम पैसा मिलेगा, सिर्फ 2 करोड़ रुपए। तिरुपुर से सालाना 2.2 अरब डॉलर का निर्यात होता है, जिसे देखते हुए जो माल पहुँचाया जाना है या जिसका भुगतान मिलना है, उस माल की कीमत किसी भी समय 75 करोड़ डॉलर से अधिक या 3,300 करोड़ रुपए होगी।

यदि डॉलर 45 रुपए से घटकर 40 रुपए हो गया तो उनका नुकसान 300 करोड़ रुपए के बराबर होगा। इस उम्मीद में कि डॉलर का मूल्य चढ़ेगा, कम नहीं होगा, बहुत से निर्यातकों ने माल की बिक्री के बदले डॉलर में प्राप्त आय को डॉलर खाते में जमा करा दिया था। नतीजा यह हुआ कि अप्रैल-जून 2007 में डॉलर के गिरते ही उक्त खाते में जमा रकम का भी मूल्य घट गया। तिरुपुर निर्यातकों को इस तरह अनुमानत: 400 करोड़ रुपए की हानि हुई।

विदेशी मुद्रा के डेरिवेटिव्स (व्युत्पत्तियाँ)

कहानी अब शुरू होती है। हालात अचानक और अप्रत्याशित रूप से बदल जाने के कारण जब तिरुपुर निर्यातक हैरान-परेशान थे, तब कुछ बैंकों, अधिकतर नए प्रकार के निजी बैंकों ने अपने कुछ बोलने में अत्यधिक सक्षम और

आधुनिक विदेशी मुद्रा व्युत्पत्तियों के सेल्समैनों को साधारण सीधे-सादे निर्यातकों के पास भेजा। उन्होंने उनके सामने एक जादुई सुरक्षा जाल पेश किया।

उन्होंने निटवियर निर्यातकों को यह न सोचने की सलाह दी कि वे निटवियर निर्यात जैसे कठिन काम से ही धन कमा सकते हैं। उन्हें बताया कि वे विदेशी मुद्रा बाजार में व्युत्पत्ति उत्पादों के जरिए बाजी लगाकर और भी ज्यादा कमाई कर सकते हैं। उन्होंने निर्यातकों को यह भी भरोसा दिलाया कि विदेशी मुद्रा व्युत्पत्ति उत्पादों की खरीद एवं बिक्री से उन्हें जो कमाई होगी, वह डॉलर मूल्य में गिरावट के कारण उन्हें हुई हानि की पूरी भरपाई कर देगी। ये बैंक तिरुपुर तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि वे प्रत्येक ऐसे समुदाय-प्रधान औद्योगिक समूह में गए, जैसे कि लुधियाना, सूरत, राजकोट, बड़ौदा, कोयंबतूर, तिरुपुर, करूर आदि। लेकिन यह कहानी तिरुपुर की है।

उत्साही बैंकरों द्वारा प्रस्तुत जोशीले दृश्य ने निराशाग्रस्त निर्यातकों के कानों में जादुई मंत्र फूँक दिया। बैंकों ने उन्हें यह भी बताया कि व्युत्पत्ति उत्पादों की योजना नोबेल पुरस्कार पानेवाले अर्थशास्त्रियों द्वारा बनाई गई है। डॉलर के प्रहार से आहत तिरुपुर के आर्मस्ट्रांग पलनीसामी जैसे निर्यातकों के लिए यह प्रस्ताव बहुत ही लुभावना था।

विदेशी मुद्रा व्युत्पत्ति क्या है?

कम जटिल शब्दों में कहा जाए तो तिरुपुर में बिक्री हेतु प्रस्तुत विदेशी मुद्रा व्युत्पत्ति किसी भी अन्य बाजी की तरह एक बाजी या दाँव ही है। यहाँ बाजी यह लगाई जाती है कि क्या यूरो या येन या स्विस फ्रेंक या फ्रेंच फ्रेंक एक-दूसरे के मुकाबले और/या डॉलर के मुकाबले चढ़ेंगे अथवा गिरेंगे, और इस घट-बढ़ में कितना अंतर होगा। यदि बाजी सही पड़ती है तो निर्यातकों को लाभ होगा, यदि गलत हुई तो वे बाजी हार जाएँगे। अच्छे-से-अच्छे वित्त विशेषज्ञ भी भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि कौन बाजी जीतेगा, कौन हारेगा।

व्युत्पत्ति के बारे में जानकारी देने के लिए में बनाई गई वेबसाइट www.finpipe.com का कहना है —'राजनीतिज्ञों, वरिष्ठ अधिकारियों, विनियामकों और यहाँ तक कि निवेश पोर्टफोलियो प्रबंधकों को भी इन जटिल उत्पादों की सीमित जानकारी होती है।'

बुफे-कथन

तिरुपुर या लुधियाना में तो नहीं, लेकिन पश्चिम में अवश्य ही व्युत्पत्ति उत्पादों का व्यापार केलों की तरह किया जाता है। फिर भी विश्व के सबसे धनी एवं अत्यंत कुशल वित्त विशेषज्ञ वारेन बुफे के विचार में डेरिवेटिव्स महाविनाश के वित्तीय हथियार हैं।

वारेन बुफे कहते हैं कि कुछ व्युत्पत्ति उत्पादों की योजना कुछ 'पागलों' की बनाई लगती है। यदि बुफे को इन उत्पादों से डर लगता है और वह इन्हें पागलों के दिमाग की उपज मानते हैं, तो जाहिर है कि तिरुपुर के उन निर्यातकों, भूतपूर्व-कृषकों को इनके बारे में कितनी जानकारी होगी, जिनमें से दो-तिहाई दसवीं तक या उससे भी कम पढ़े-लिखे थे।

जैसे ही बैंकों ने ये जटिल मुद्रा व्युत्पत्ति उत्पाद—जिन्हें वारेन बुफे महाविनाशी अस्त्रों के रूप में देखते हैं—आर्मस्ट्रांग पलनीसामियों को बेचे, वे जानते थे कि उनके नए उत्पादों से अनभिज्ञ खरीदारों को नए, लुभावने खिलौनों के साथ खेलने के परिणामों का ज्ञान नहीं है। बैंकों द्वारा दिए गए लुभावने एवं प्रलोभनकारी आश्वासनों ने

भेड़ों की मानिंद मानसिकतावाले तिरुपुर निर्यातकों को लाखों-करोड़ों डॉलर के मोहक व्युत्पत्ति उत्पादों की खरीद के लिए सामूहिक रूप से हस्ताक्षर करने के लिए राजी कर लिया, जिसके बारे में उन्हें बताया गया और उन्होंने भरोसा भी कर लिया कि उनके अचानक हुए घाटे की पूर्ति हो जाएगी।

कुछ शुरुआती सौदों में तो इन उत्पाद व्यापारियों ने निर्यातकों के नाम थोड़ा-बहुत लाभ जमा कराया, जिसके कारण वे इन सौदों में और भी ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे। इस प्रकार अप्रैल 2007 से व्युत्पत्ति के चालाक-चतुर व्यापारियों ने डॉलर, यूरो, पौंड, स्विस फ्रेंरक, जापानी येन में लाखों-करोड़ों के मिश्रित व्युत्पत्ति उत्पाद उन निर्यातकों को बेच दिए।

बढ़ता जोखिम

इन व्युत्पत्ति उत्पादों की योजना निर्यातकों की जोखिम-सुरक्षा के लिए नहीं, बल्कि उनके लाभ दिलाने के लिए बनाई गई थी। अत: उन्होंने निर्यातकों का जोखिम बढ़ा दिया और उन्हें डॉलर का मूल्य गिरने से होनेवाली हानि के मुकाबले कई गुना ज्यादा जोखिम में डाल दिया। आर्मस्ट्रांग पलनीसामी का ही उदाहरण लें। मार्च, 2008 के आस-पास बैंकों ने उससे—आप शायद विश्वास न करें—उसे बेचे गए व्युत्पत्ति उत्पादों पर हुई हानि के रूप में 30 करोड़ रुपए से अधिक का भुगतान करने का तकाजा करना शुरू कर दिया, जबकि शुरू में उसे आश्वस्त किया गया था कि उसे इतना लाभ अवश्य होगा कि वह डॉलर की गिरावट से हुई 3 करोड़ रुपए की हानि की पूर्ति कर सके।

इस तरह व्युत्पत्ति ने उसकी मुश्किलों को कई गुना बढ़ा दिया। तिरुपुर के अधिकतर निर्यातकों का वही हाल हुआ जो आर्मस्ट्रांग पलनीसामी का हुआ, फर्क इतना ही था कि किसी का अधिक नुकसान हुआ, किसी का कम। तिरुपुर को इस खाते में लगभग 500 करोड़ रुपए की हानि हुई। यह उस हानि के अतिरिक्त है जो डॉलर के मूल्य में गिरावट के कारण उन्हें हुई थी। कहानी का अगला भाग इस बारे में है कि तिरुपुर की रक्षा के लिए बनाई गई व्युत्पत्ति उत्पादों की योजना विनाशकारी कैसे हो गई?

बैंकों द्वारा सम्मोहित किया जाना

तिरुपुर के पलनीसामियों को बैंकों द्वारा बेचे गए व्युत्पत्ति उत्पादों को विदेशी मुद्रा व्यापार में 'एग्जॉटिक' कहा जाता है। अंग्रेजी के उस शब्द का मतलब होता है 'विचित्र परंतु आकर्षक, सम्मोहक'। इस शब्द का प्रयोग एक विशेषण के रूप में भी किया जाता है, जैसे नाभि-उघाड़कर नृत्य करनेवालों के संदर्भ में 'सम्मोहक नर्तक' आदि। सोचने की बात है कि डिराइवेटिव्ज के पहले 'एग्जाटिक' जैसे विशेषण का प्रयोग करके बैंकों ने तिरुपुर के निर्यातकों को क्या उतनी ही मार्मिकता से सम्मोहित नहीं किया होगा, जैसे नग्न-नृत्य और नाभि-नृत्य के नाम पर किशोरों को आकृष्ट किया जाता है?

विदेशी मुद्रा व्युत्पत्ति के बारे में यहाँ कुछ संकेत दिए जा रहे हैं, जिनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि तिरुपुर निर्यातकों को किस तरह इस जाल में फँसाया गया होगा। व्युत्पत्ति एक सुरक्षा है किसी जोखिम के विरुद्ध; वह सुरक्षा 'विदेशी मुद्रा दर से लाभ दिलाने के बजाय उसमें किसी घट-बढ़ के विरुद्ध रक्षा प्रदान करती है।'

विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में मुद्रा संबंधी कानून हानि से बचने के लिए तो बाड़ लगाने यानी सुरक्षा-कवच की इजाजत देते हैं, लेकिन उससे लाभ कमाने की नहीं। वे कहते हैं कि लाभ देनेवाले व्युत्पत्ति उत्पादों की योजना

अवैध है। कानून की इस दृष्टि में तिरुपुर व्युत्पत्ति उत्पादों का स्थान कहाँ है? विदेशी मुद्रा वायदा ठेकों से आरंभ करते हैं, क्योंकि सुरक्षा कवच के रूप में इनकी निस्संदेह मंजूरी है। ऐसे ठेकों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

यदि तिरुपुर का कोई निटवियर निर्माता 41 रुपए प्रति डॉलर के निश्चित मूल्य पर निर्यात करने का वचन देता है, तो वह 41 रुपए प्रति डॉलर के हिसाब से अपनी निर्यात आय की वायदा-बिक्री कर सकता है, ताकि बाद में डॉलर का मूल्य गिरकर यदि 39 रुपए रह जाता है, तब भी निर्यातक को 41 रुपए प्रति डॉलर के हिसाब से ही भुगतान मिले। विदेशी मुद्रा व्यापार में इसे 'वनीला' या 'सपाट वायदा' कहा जाता है, जो विदेशी मुद्रा में गिरावट के जोखिम से बचाव करता है।

बैंकों द्वारा तिरुपुर निर्यातकों के साथ किए गए सौदे उतने सरल नहीं थे। तिरुपुर व्युत्पत्ति उत्पादों के संक्षिप्त सर्वेक्षण से पता चलता है कि वे जटिल, सम्मोहक व्युत्पत्ति उत्पाद थे या देखने में ही सरल लगते थे, लेकिन उनकी कानूनी मंजूरी नहीं थी। पहले जटिल आकर्षक व्युत्पत्ति उत्पाद उन नासमझ निर्यातकों को बेचे गए, जिनमें से अधिकतर दसवीं तक ही पढ़े थे या जिन्होंने स्कूल की पढ़ाई बीच में ही छोड़ दी थी। यह काम वास्तव में धोखे में रखने जैसा था, क्योंकि वित्तीय विषयों की गहरी पैठ रखनेवाले विशेषज्ञ भी ऐसे मकड़जाल को पूरी तरह नहीं समझ सकते।

भ्रामक प्रलाप

सन् 2007 की दूसरी और तीसरी तिमाही में तिरुपुर की गलियों और बाजारों में बेचे गए जटिल व्युत्पत्ति उत्पादों का एक उदाहरण देखें। सावधान! अगली पंक्तियाँ पढ़कर आपका दिमाग चक्कर खाने लगेगा। मिसाल के तौर पर, 3 जुलाई, 2007 का व्युत्पत्ति उत्पादों का एक सौदा (जिसमें 'टोक्यो कट', 'यूरोपियन स्टाइल ऑप्शन' और 'अमेरिकन बैरियरर्स' जैसी विशेषताएँ हैं), जो 23 मई, 2008 को समाप्त होना था, कुछ ऐसी भाषा का इस्तेमाल करता है—'निर्यातक बिकवाली (और बैंक की खरीद) यू.एस.डी. कॉल/सी.एच.एफ. पुट एट स्ट्राइक 1.2300 फॉर यू.एस.डी. 4 मिलियन विद नॉक आउट @1.2400; निर्यातक बिकवाली (और बैंक खरीद) यू.एस.डी. पुट/सी.एच.एफ. कॉल एट स्ट्राइक 1.2300 फॉर यू.एस.डी. 8 मिलियन विद् नॉक आउट @1.24, नॉक इन @1.12; डबल वन टच ऑप्शन विद् ट्रिगर 1.2270 एंड 1.2330 विद् पे ऑफ यू.एस.डी. 50,000 परिपक्वता पर।'

यूरोपियन स्टाइल? अमेरिकन बैरियर्स? टोक्यो कट? डबल वन-टच ऑप्शन? नॉक इन? नॉक आउट?

तिरुपुर में स्कूल की पढ़ाई छोड़कर निर्यातक बने लोगों की समझ में कैसे आती यह विचित्र शब्दावली? इन शब्दों का मतलब, जो बड़े-बड़े दिग्गज भी आसानी से नहीं समझ सकते, इस प्रकार है, (क) यदि व्युत्पत्ति उत्पाद की एक अवधि के दौरान स्विस फ्रैंक (सी.एच.एफ.) डॉलर के बदले 1.2270 या 1.2330 फ्रैंक में बिकता है, तो निर्यातक को 50,000 डॉलर (तब के 22.50 लाख रुपए के बराबर) मिलेंगे; (ख) यदि स्विस फ्रैंक का मूल्य डॉलर की तुलना में 1.12 से नीचे रहता है, तो निर्यातक को 1.23 फ्रैंक प्रति डॉलर की दर पर 8 मिलियन डॉलर खरीदने होंगे, और इस लेन-देन में उसे 880,000 डॉलर या 4 करोड़ रुपए का नुकसान होगा। यदि डॉलर का मूल्य 1.12 स्विस फ्रैंक से नीचे चला जाता है तो यह नुकसान और भी बढ़ जाएगा, और हुआ भी ऐसा ही।

मई, 2008 में डॉलर की कीमत घटकर 1.05 स्विस फ्रैंक तक पहुँच गई। उक्त सौदे के अंतर्गत डॉलर के विरुद्ध स्विस फ्रैंक में प्रत्येक सेंट की चढ़त के साथ तिरुपुर निर्यातक को 36.37 लाख रुपए का घाटा होना था। स्विस फ्रैंक में 18 सेंट की वृद्धि हुई, और उसके फलस्वरूप निर्यातक के खाते में 6.57 करोड़ रुपए का घाटा दर्ज

हुआ। निर्यातक को इस बात से जोश आया था कि इस सौदे में उसे 22.5 लाख रुपए का लाभ होगा।

इस तरह से लाभ अर्जित करना कानून की नजर में अवैध है, लेकिन बैंकों ने उस निर्यातक को यह गैर-कानूनी लॉलीपॉप दिखाकर ही उक्त सौदेबाजी में घसीटा। निष्कर्ष—निर्यातक का लाभ 50,000 डॉलर तक ही सीमित था, परंतु उस सौदे में निर्यातक के नुकसान की कोई सीमा नहीं थी।

जोखिम बढ़ता गया

दूसरे, बैंकों ने तिरुपुर निर्यातकों को जिन व्युत्पत्ति उत्पादों में हाथ डालने की सलाह दी, वे उनके विदेशी मुद्रा जोखिम को कई गुणा करनेवाले थे, न कि उस जोखिम को कम करनेवाले। पुन:, जिस प्रकरण का उदाहरण दिया जा रहा है, उसमें एक नहीं, बल्कि तीन बैंकों ने 2007 के दौरान तिरुपुर के उसी निर्यातक को कई तरह के मिले-जुले व्युत्पत्ति उत्पाद बेचे थे। इन बैंकों में एक विदेशी बैंक था, एक वह जो अपने को भारतीय बताता था और एक राष्ट्रीयकृत बैंक था।

उन व्युत्पत्ति-उत्पादों के अंतर्गत निर्यातक ने 62.5 मिलियन डॉलर की शुद्ध खरीद की और अन्य मुद्राओं—यूरो 6.75 मिलियन, जी.बी.पी. (पौंड) 27.75 मिलियन, जापानी येन 167.12 मिलियन, स्विस फ्रैंक 1.10 मिलियन और रुपए 63.95 मिलियन की शुद्ध बिक्री की। हालाँकि तीनों बैंकों ने उसे 62.5 मिलियन डॉलर की वायदा बिकवाली की थी। उसे वास्तव में अमेरिकी डॉलर बेचने की जरूरत थी—न कि खरीदने की; क्योंकि उसका 90 प्रतिशत निर्यात अमेरिकी डॉलर में होता था।

यहाँ 62.5 मिलियन डॉलर के खरीददार ने अपना जोखिम और बढ़ा लिया, उसका बचाव नहीं किया। कानून के अनुसार, बैंकों को चाहिए कि वे निर्यातक को ऐसे विकल्पों का प्रस्ताव न करें जिनसे उसका जोखिम बढ़ जाए। लेकिन बैंकों ने तिरुपुर में इस कानूनी व्यवस्था का कतई पालन नहीं किया और निर्यातक को जोखिम में डाल दिया।

कल्पना कीजिए कि व्युत्पत्ति उत्पादों का एक विशेषज्ञ एक अशिक्षित आम-उत्पादक को बिन-माँगी सलाह देता है कि वह आमों की अगाऊ बिक्री न करें, बल्कि आमों के व्युत्पत्ति उत्पाद और खरीद ले। कितनी आपराधिक होगी यह सलाह? निटवियर निर्यात के जरिए अमेरिकी डॉलर हासिल करनेवाले तिरुपुर के भूतपूर्व किसानों को और अधिक डॉलर खरीदने की सलाह देना आम-उत्पादकों को दी गई ऐसी सलाह से कतई भिन्न नहीं थी।

तीसरे, तिरुपुर के अधिकतर मामलों में व्युत्पत्ति उत्पादों की मात्रा निर्यातक के वास्तविक निर्यात आवर्त अथवा कुल बिक्री से कई गुणा अधिक है, जबकि कानून के अनुसार व्युत्पत्ति उत्पादों के लिए अधिकतम सीमा कुल बिक्री का अंश मात्र है। उदाहरणस्वरूप, जिस निटवियर निर्माता के बारे में चर्चा चल रही है, पिछले तीन वर्षों में उसके निर्यात का औसत 8 मिलियन डॉलर था, जो व्युत्पत्ति की अधिकतम सीमा है। जबकि इस सीमा के विरुद्ध, बैंकों ने 62.5 मिलियन डॉलर, यानी निर्धारित सीमा से करीब आठ गुणा ज्यादा मात्रा का ठेका दिया था।

एक चेतावनी। यह सीमा केवल हानियों के विरुद्ध सुरक्षा पर लागू होती है, 62.5 मिलियन डॉलर की खरीद करने पर नहीं, क्योंकि वह कोई सुरक्षा नहीं है, बल्कि डॉलर पर लगाई गई एक बाजी है, एक दाँव है। इसके अलावा, कानून इस बात पर भी बल देता है कि 8 मिलियन डॉलर की निर्धारित सीमा तक के ठेकों में से तीन-चौथाई को रद्द नहीं किया जा सकता तथा उनका सुपुर्दगी योग्य होना जरूरी है। फिर भी तीनों बैंकों द्वारा वे सौदे रद्द किए जाने, सुपुर्दगी बिना ही निपटाए जाने के इरादे से किए गए थे।

न पूरे होनेवाले वायदे

चौथी बात, उनके द्वारा बेचे गए सौदों के अंतर्गत बैंकों ने निर्यातकों से विशिष्ट मुद्राओं की खरीद का ठेका किया था, वे मुद्राएँ जो उन्होंने बिल में नहीं लिखी थीं और उस कारण से उनको भुगतान नहीं मिलना था।

तात्कालिक मामले में तीनों बैंकों ने 6.75 मिलियन यूरो, 27.75 मिलियन पौंड, 167.12 मिलियन जापानी येन, 1.1 मिलियन स्विस फ्रैंक उस निर्यातक से खरीदने का ठेका किया था, जब उसे इनकी प्राप्ति होगी या उसके पास बेचने के लिए कोई यूरो, कोई जी.बी.पी., कोई जापानी येन और कोई स्विस फ्रैंक नहीं होगा, क्योंकि उसने अपने निर्यात बिल अमेरिकी डॉलर में बनाए थे, उन मुद्राओं में नहीं। फिर वह निर्यातक बैंकों को देने के लिए यूरो, जी.बी.पी. (पौंड) या स्विस फ्रैंक कहाँ से लाएगा?

बैंकों को शुरू में ही पता था कि उन्हें सुपुर्दगी नहीं देनी है, इसी कारण से उन्होंने गैर-सुपुर्दगीवाले वायदों की बिक्री की है, जबकि कानून में जिसकी अनुमति नहीं है। अकेले तिरुपुर में ही इस तरह के बड़े-छोटे सैकड़ों मामले हैं। पाँचवाँ, कानून के अंतर्गत वही बैंक जिसके साथ कोई लघु एवं माध्यम उद्योग जुड़ा होता है, उसको व्युत्पत्ति उत्पादों की बिक्री नियमित रूप से कर सकता है। और वह भी उस स्थित में, जब भरपूर जाँच करने के बाद बैंक इस बात से संतुष्ट हो कि अमुक उत्पाद ग्राहक के लिए उचित है।

इसके अलावा विश्व भर में स्वीकार किए गए मानदंडों के अनुसार बैंकों से अपेक्षा की जाती है कि वे बड़े या छोटे, सभी तरह के ग्राहकों को उन्हीं व्युत्पत्ति उत्पादों का प्रस्ताव करें, जो उनके लिए उचित एवं उपयुक्त हों। तिरुपुर निर्यातक लघु और मध्यम दर्जे के हैं। फिर अधिकतर मामलों में व्युत्पत्ति उत्पाद विक्रेता संबंधित निर्यातकों के नियमित बैंकर नहीं थे और निर्यातक को बेचे जानेवाले उत्पाद की उपयुक्तता आँकने के लिए कोई श्रमसाध्य प्रयोग भी नहीं किया गया था।

ऐसा नहीं है कि इन गूढ़ व्युत्पत्ति उत्पादों की तलाश में तिरुपुर निर्यातक बैंकों के पास गए थे, बल्कि जो हुआ, इससे बिलकुल उलट था; क्योंकि स्वयं बैंकर ऐसे अनभिज्ञ, असावधान निर्यातकों के पीछे लगे हुए थे, उनकी खोज में थे, ताकि वे इन उत्पादों को उन्हें बेच सकें।

जोखिम का हस्तांतरण?

छठी बात, जिन अलग-अलग बैंकों ने अपने व्युत्पत्ति उत्पाद इन ग्राहकों को बेचे थे, उन्होंने संबंधित ग्राहकों द्वारा लिये गए उत्पादों की स्थिति के बारे में दूसरे बैंकों से नितांत आवश्यक पूछताछ या जाँच-पड़ताल भी नहीं की।

अन्य बैंकों के साथ निर्यातकों के व्युत्पत्ति उत्पादों की स्थिति के प्रति आँखें मूँदकर व्युत्पत्ति उत्पादों के जोशीले सौदागरों ने निर्यातकों को अपना माल—बैंकों द्वारा इ-मेल के जरिए भेजे गए फार्मों या प्रपत्रों पर—सिर्फ इस वचन के तहत बेच दिया कि अन्य बैंकों के साथ उन्होंने व्युत्पत्ति उत्पादों का कोई सौदा नहीं किया है। स्पष्टत: यह एक झूठा बयान था, जिसे बैंक अपने रिकॉर्ड में रखने के लिए लेना चाहते थे, ताकि वे अपने सौदों संबंधी योजनाओं को बेच सकें।

कुछ मामलों में बैंक इससे भी आगे चले गए लगते हैं। उन्होंने निर्यातकों के लिए सौदे भी कर डाले और निर्यातकों को भनक तक नहीं लगने दी। इन सौदों को नियमित करने के लिए बाद में उन्होंने उन हस्ताक्षरित पत्रों

का इस्तेमाल किया जो उनके कब्जे में थे। अत: इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता है कि जो निर्यातक ऐसी सौदेबाजी के लिए कभी पूरी तरह तैयार नहीं थे या उसकी समझ नहीं रखते थे, उनको जाल में फाँसने के लिए बड़ी बेरहमी और सोची-समझी साजिश के तहत कानून को तोड़ा-मरोड़ा गया। लेकिन क्यों? क्या सिर्फ एक शुल्क के लिए? ऐसा नहीं हो सकता। इसके पीछे अवश्य ही कोई बड़ा कारण या प्रयोजन रहा होगा।

जोखिमों का थोक के भाव मूल सौदागर के तौर पर करार करने के बाद क्या बैंकों ने बिना सोचे-विचारे अपना जोखिम बाजार-निर्माताओं के रूप में आरक्षित निर्यातकों को आगे बेच दिया? परदे के पीछे बहुत कुछ है जो दिखाई नहीं देता। क्या भारतीय रिजर्व बैंक जागेगा, जाँच कराएगा और सच्चाई को सामने लाएगा?

□

समय भारत के सूर्योदय का

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश मिथक और वास्तविक

विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ.डी.आई.) या विदेश आश्रित मानसिकता

वित्तमंत्री चाहे कांग्रेस का रहा हो या भाजपा का, हर वित्तमंत्री ने एक सुर में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (फॉरेन डायरेक्ट इन्वेस्टमेंट—एफ.डी.आई.) का समर्थन किया है। शुरू-शुरू में मनमोहन सिंह और पी. चिदंबरम् जैसे कुछ वित्तमंत्रियों के अनुसार, 'बात यह नहीं थी कि विदेशी प्रत्यक्ष निवेश जरूरी है, बल्कि यह थी कि इसके बिना हम नष्ट हो जाएँगे।' इस कथन ने विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ.डी.आई.) को भारत का मूल्यांकन करने के लिए राष्ट्रीय आर्थिक प्रतिष्ठा का प्रतीक या कहें कि उसकी कसौटी बना दिया। आर्थिक विषयों के टीकाकार चीन को प्राप्त एफ.डी.आई. और भारत को प्राप्त एफ.डी.आई. की तुलना किया करते थे, ताकि वे भारत को एक निकृष्ट अर्थव्यवस्था अर्थात् एक निम्नस्तरीय देश के रूप में बदनाम कर सकें। मनोवैज्ञानिक तौर पर इसने देश के विश्वास को कमजोर कर दिया।

बम पोखरण में नहीं बल्कि नॉर्थ ब्लॉक में

एक उच्च स्तरीय अधिकारी भारतीय व्यापारियों को यहाँ तक सलाह दिया करता था कि वे अपनी कंपनियाँ विदेशियों को बेच दें। उसके कहने का मतलब था कि उत्पादन कंपनियाँ चलाना विदेशियों को ही आता है, हमारे अंदर वह योग्यता नहीं है। विदेशी सलाहाकारों ने टाटा-परिवार को टिस्को और टाटा मोटर्स का स्वामित्व त्याग देने अर्थात् दोनों कंपनियाँ विदेशियों को बेच देने और टाटा कंसलटेंसी सर्विसेज पर ही ध्यान देने की सलाह दे डाली। इस प्रकार राष्ट्रीय विश्वास को ठेस पहुँचाई गई, जैसे कि कोई षड्यंत्र चल रहा हो। वास्तव में इस स्थिति ने ही विदेश आश्रित मानसिकता बना दी। इस तरह विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की खोज एक आर्थिक साधन बनने के बजाय राष्ट्रीय विश्वास को नष्ट करने का माध्यम बन गई।

इस राष्ट्रीय पराजयवाद को उलटने का काम एक घटना, एक गैर-आर्थिक या कहें कि अर्थव्यवस्था विरोधी घटना ने किया, वह घटना थी—पोखरण बम-विस्फोट। यहाँ तक कि पोखरण के इतिहास-रचयिता अटल बिहारी वाजपेयी ने भी इसके प्रभाव की पूर्व-कल्पना नहीं की होगी। बम के धमाके ने भारतीय सभ्यता को पुनर्जीवित कर दिया, जो शताब्दियों से 'सघन देखभाल कक्ष' (आई.सी.यू.) में पड़ी हुई थी। इस विस्फोट से पश्चिम, विशेषतर अमेरिका स्तब्ध रह गया। पश्चिमी देश भले का नहीं, बल्कि बलशाली का सम्मान करते हैं। यही कारण है कि वे रक्त-रंजित चीन का आदर करते हैं। भारत में पोखरण बम का विस्फोट असल में तो राजस्थान में हुआ, लेकिन मनोवैज्ञानिक रूप से इसका असर वित्त मंत्रालय पर पड़ा, जिसके पदाधिकारी आतंकित हो गए, उनमें तहलका मच गया।

लेकिन शीघ्र ही राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा होने लगा। विदेशी मुद्रा की स्थिति को मजबूत सहारा देने के लिए जारी किए गए भारत विकास बंधपत्रों (इंडिया डेवलपमेंट बॉण्ड) में अनिवासी भारतीयों ने आशातीत निवेश करके उन्हें ओवर सब्सक्राइब कर दिया। पोखरण ने उन्हें भारत के साथ अपना संबंध बताने की लज्जा को दूर कर दिया, पोखरण की घटना होने तक भारत उनके लिए एक विफल सभ्यता का प्रतीक बना हुआ था। कोई अर्थवेत्ता नहीं, बल्कि एक विज्ञापन विशेषज्ञ पोखरण के प्रभाव को महसूस कर सका। उसका कहना था कि जो अनिवासी भारतीय

भारत को गाली दिया करते थे, पोखरण-विस्फोट के बाद उन्होंने भारत की प्रशंसा में गीत गाना शुरू कर दिया।

उसके बाद से राष्ट्रीय आत्मविश्वास धीरे-धीरे बढ़ने लगा। तब तत्कालीन वित्तमंत्री जसवंत सिंह को उस समय अमेरिका के उपविदेश मंत्री स्ट्रोब टालबेट से अपेक्षित सम्मान मिला। बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना विज्ञान और व्यापार में भी झलकने लगी। टाटा ने विश्व भर की सलाह के विरुद्ध जाकर पहली भारतीय कार का निर्माण किया—पहले इंडिका बनाई, फिर इंडिगो। महिंद्रा बंधुओं ने पहली भारतीय विशेष उपयोगी गाड़ी (एस.यू.वी.) बनाई—पहले बोलेरो, फिर स्कॉर्पियो। टी.वी.एस. ने पहली भारतीय मोटरसाइकिल 'विक्टर' बनाई और अपने संयुक्त उद्यम साझेदार की छुट्टी कर दी। टिस्को ने न्यूनतम लागत इस्पात उत्पादक के रूप में विश्व भर में अपनी पहचान बनाई। सफलताओं का यह सिलसिला एक बार शुरू हुआ तो चलता ही गया।

मुरासोली मारन ने विश्व व्यापार संगठन को भारत की बात सुनने के लिए बाध्य कर दिया। देश के अंदर ही छोटे-छोटे स्थानीय ब्रांडों ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विश्वव्यापी ब्रांडों को चुनौती देना शुरू कर दिया और उनपर सफलता पाई। भारत की एक नई तस्वीर उभरने लगी। आश्चर्य की बात है कि यह सब बहुत अधिक एफ.डी.आई. के बिना ही हुआ, पहले से और कम एफ.डी.आई. के साथ। इस नए घटनाक्रम ने भारत और बाहर के देशों में वित्तमंत्रियों और अर्थशास्त्रियों को पूरी तरह चकरा दिया। वास्तव में पश्चिमी आर्थिक विशेषज्ञों को भारत में अच्छे गुण नजर आने लगे; क्योंकि चीन की तुलना में भारत में 'विदेशी प्रत्यक्ष निवेश' कम हुआ था। उन्होंने कहा, 'भारत को इसकी जरूरत नहीं है', लेकिन चीन को थी। क्यों? उनका कहना था, भारत के पास उद्यमी हैं। चीन के पास नहीं हैं, क्योंकि वह उनको पहले ही समाप्त कर चुका है। इसलिए चीन को एफ.डी.आई. आयात के जरिए उन्हें आयात करना पड़ा। इस तरह एफ.डी.आई. की अधिकता नहीं, बल्कि उसकी कमी एक सद्गुण बन गई। भारत के लिए खेद प्रकट करनेवालों द्वारा बड़े परिश्रम से बनाई गई विदेश आश्रित मानसिकता अतीत की बात हो गई, तथापि एफ.डी.आई. के लिए वह अविवेकी खोज, जो उस समय शुरू हुई थी, जब हमारे पास तीन सप्ताह की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा भंडार शेष था, अभी तक जारी है। जबकि इस समय हमारा विदेशी मुद्रा भंडार 120 बिलियन डॉलर तक पहुँच गया है, और कभी-कभी हम सोचते हैं कि इस बढ़ती जा रही निधि का हम क्या करेंगे! इसके बावजूद इस बजट में भी, एफ.डी.आई. पर याचनापूर्वक जोर दिया गया है।

वित्तमंत्री कहते हैं कि मूलभूत ढाँचे के लिए एफ.डी.आई. की जरूरत है। इस कारण से तीन क्षेत्रों में एफ.डी.आई. सीमा बढ़ाए जाने की अपेक्षा है—दूर-संचार के क्षेत्र में बढ़ाकर 74 प्रतिशत और बीमा तथा नागर विमानन में 49 प्रतिशत की जानी है। इन सभी क्षेत्रों में सरकार की प्रमुख भूमिका है, दूरसंचार में भारत संचार निगम लि. (बी.एस.एन.एल.) और महानगर टेलीफोन निगम लि. (एम.टी.एन.एल.), बीमा क्षेत्र में एल.आई.सी. और जी.आई.सी. समूह तथा नागर विमानन में एअर इंडिया व इंडियन एयरलाइंस। सार्वजनिक क्षेत्र में इन उपक्रमों में एक भी सरकारी शेयर विदेशियों को नहीं बेचा जाएगा। ऐसे में निजी क्षेत्र की कंपनियाँ ही रह जाती हैं, जो अपने शेयर बेचेंगी। अत: यह नीति निजी स्वामित्ववाली कंपनियों के लिए ही बनाई गई है। उनमें से अधिकतर कंपनियाँ इसके लिए पुरजोर कोशिश करती रही हैं। सारी दिल्ली उन्हें जानती है। लेकिन उन्होंने जनसंचार माध्यम (मीडिया) को यकीन दिला दिया कि वे एफ.डी.आई. के समर्थन में अपने प्रभाव का इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे लोग प्रभाव डाल रहे हैं जो उन्हें रोकने का प्रयास कर रहे हैं, और यह तर्क मीडिया के गले उतर गया! तब वित्तमंत्री इन गुटों, यानी प्रभाव का इस्तेमाल करनेवालों के आगे यह कहते हुए झुक गए है कि सुरुचिपूर्ण भाषा और ऊँचे तत्त्वज्ञान की आड़ लेकर कि देश को आधार-तंत्र के क्षेत्र में एफ.डी.आई. (विदेशी प्रत्यक्ष निवेश) की आवश्यकता

है।

(14 जुलाई, 2004)

□

एफ.डी.आई. (विप्रनि*) से पहले हमारा अपना धन

एफ.डी.आई. के बारे में यह माना जाता है कि देश के पास निवेश के लिए धन नहीं है। शायद बहुत से लोगों को पता नहीं है कि सच्चाई इसके विपरीत है। धन न होने की बात तो छोड़ ही दीजिए, देश के पास भारी मात्रा में निष्क्रिय धन है। वह जानता ही नहीं कि उस धन का क्या करे, कहाँ लगाए। बेकार पड़ा धन राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर एक बोझ होता है। वाणिज्यिक बैंकों पर नजर डालें। सी.एम.आई.ई. का जून, 2004 का मासिक समीक्षा-पत्र दिखाता है कि बैंक अतिरिक्त धन की समस्या से जूझ रहे हैं। यही कारण है कि निवेश के अवसरों के अभाव में वे अपना धन सरकारी प्रतिभूतियों में निवेश कर देते हैं।

सी.एम.आई.ई. समीक्षा-पत्र कहता है कि वाणिज्यिक बैंकों ने 14 अप्रैल से मई, 2004 तक केवल छह सप्ताह के अंदर सरकारी प्रतिभूतियों में 42,055 करोड़ रुपए का निवेश किया था। मार्च, 2004 में समाप्त 12 महीनों की अवधि में बैंकों ने 1,27,776 करोड़ रुपए की विशालतम धनराशि का निवेश सरकारी प्रतिभूतियों में किया। भारतीय रिजर्व बैंक के अनुसार, बैंकों की निवल निधियों का 41.5 प्रतिशत सरकारी प्रतिभूतियों में लगा हुआ है। 25 प्रतिशत की सांविधिक सीमा के विरुद्ध बैंकों ने निवेश के लिए दूसरे रास्ते न पाकर, सरकारी प्रतिभूतियों में जो अतिरिक्त निवेश किया है, उसका आँकड़ा 2,69,777 करोड़ रुपए अथवा 60 बिलियन डॉलर तक पहुँच गया है। यह निष्क्रिय धन है, जिसका निवेश करने के लिए बैंकों के पास कोई अवसर नहीं बचे हैं। जरा सोचिए, एक निवेश-लालायित अर्थव्यवस्था में बैंकों के पास 60 बिलियन डॉलर जितनी बड़ी रकम का निवेश करने के लिए कोई उपाय नहीं बचा है!

अब जरा विदेशी मुद्रा भंडार को देखें। यह 120 बिलियन डॉलर तक पहुँच गया है और प्रत्येक माह इसमें 2 बिलियन डॉलर की वृद्धि हो रही है। भारतीय रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार, विदेशी मुद्रा भंडार का दूसरे देशों में किए गए निवेश पर पिछले साल तक 4.1 प्रतिशत की दर से मिलनेवाला प्रतिफल सन् 2003-04 में घटकर 2.1 प्रतिशत रह गया है। अत: 5,40,000 करोड़ रुपए की राष्ट्रीय परिसंपत्ति पर हमें केवल 11,340 करोड़ रुपए प्रतिलाभ के रूप में मिलते हैं। चूँकि हमें मालूम नहीं कि इस राशि को भारत में कैसे निवेश करें, अत: हम इसे अमेरिका में रखते हैं और अमेरिकी अर्थव्यवस्था को 4 प्रतिशत ब्याज की आर्थिक मदद देते हैं। बैंकों के पास 60 बिलियन डॉलर की निष्क्रिय धनराशि का क्या किया जाए, यह हमें पता नहीं, और हमें यह भी नहीं मालूम कि हमने 60 बिलियन डॉलर (120 मिलियन डॉलर में से) की अतिरिक्त राशि किस कारणवश अत्यल्प ब्याज पर अन्य देशों को उधार दी हुई है, फिर भी हमें एफ.डी.आई. की जरूरत है। हाँ, यह ठीक है कि सन् 1990 दशाब्दी के मध्य तक हमारे पास धन की कमी थी। लेकिन क्या आज कोई कह सकता है कि हमारे पास धनाभाव है, हमें एफ.डी.आर. चाहिए? क्या हमारे पास धन की कमी है?

आँकड़े स्पष्ट हैं। हमारे पास अत्यधिक बेशी धन है, देशी भी और विदेशी भी। हमें उसे निवेश के अनुकूल बनाना है। सवाल यह है कि बैंकों के बेशी धन और बेशी विदेशी मुद्रा—कुल मिलाकर 120 बिलियन डॉलर—को निवेश-अनुकूल कैसे बनाया जाए? नीति-निर्माताओं की आँखों पर रूढ़िवादी बाजार की पट्टी बँधी होने के कारण वे भारतीय वास्तविकता को देखने में विफल रहे। मुक्त बाजार सिद्धांत में विश्वास रखनेवालों ने भारतीय व्यापारियों को कह दिया कि स्थानीय या विदेशी बाजार से दीर्घावधि धन प्राप्त करना उनका काम है और दीर्घकालीन पूँजी उत्पन्न करना सरकार की जिम्मेदारी नहीं है।

धारणा यह थी कि बाजार दीर्घकालिक पूँजी उत्पन्न करेगा। लेकिन भारतीय पूँजी बाजार ने ऐसा नहीं किया। और करेगा भी नहीं। क्यों?

एक कुटुंब आधारित अर्थव्यवस्था, जिसमें सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना परिवारों की जिम्मेदारी है, कभी भी जोखिमपूर्ण शेयर बाजार निवेश का रास्ता नहीं अपनाएगी। ऐसी अर्थव्यवस्था सुरक्षित निवेश करना चाहेगी। इसलिए भारतीय परिवार बहुत ही कम ब्याज-दर मिलने के बावजूद बैंकों के पास ही जाते हैं। नतीजा यह होता है कि बैंकों के पास धन जमा होता रहता है, लेकिन ये अल्पकालिक जमाराशियाँ होती हैं, जिनका उपयोग दीर्घकालीन निवेश के लिए नहीं किया जा सकता। रूढ़िवाद आधारित बाजार में भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (आई.डी.बी.आई.) और भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (आई.एफ.सी.आई.) की योजनाओं को कालदोष लग गया, वे एक बोझ बनकर रह गईं। संयोगवश भारतीय औद्योगिक ऋण एवं निवेश निगम (आई.सी.आई.सी.आई.) एक बैंक बनने से बच गया और उसने घर, कार, मोटरसाइकिल, फ्रिज आदि के लिए धन उधार देना शुरू कर दिया। आई.डी.बी.आई. और आई.एफ.सी.आई. दोनों रुग्ण हो गए, क्योंकि उन्होंने कर्ज देने में राजनीतिक सलाह का अधिक पालन किया।

फिर उपाय क्या है? जब अल्पकालिक जमाराशियों का विशाल अतिरिक्त भंडार निष्क्रिय पड़ा हो, ऐसी दशा में यह कहकर एफ.डी.आई. की अपेक्षा करना हास्यास्पद है कि हमारे पास धन की कमी है। सच तो यह है कि हमें अपने धन का निवेश करना ही नहीं आता। यह तभी हो सकता है जब सरकार इसमें रुचि ले और उचित हस्तक्षेप करे। सरकार को बैंकों को गारंटी देनी होगी और उन्हें अपनी अल्पकालिक निधियाँ आई.डी.बी.आई. और आई.एफ.सी.आई. के शेयरों तथा दीर्घकालिक बांडों में लगाने के लिए कहना होगा। इससे बैंकों की अल्पकालिक विपुल धनराशि दीर्घकालीन निवेश-अनुकूल धन में बदल जाएगी। इसका मतलब यह है कि भारत जैसे देश में, जहाँ सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना सरकार का दायित्व नहीं है, शेयर बाजार की चाल नहीं चल सकती। दीर्घकालीन पूँजी का निर्माण करने में सरकार को हस्तक्षेप करना ही होगा। निवेश की कमी को हल करने का यही उपाय है, अर्थात् बैंकों में पड़ी अल्पकालिक धनराशि को सरकार के उचित हस्तक्षेप के जरिए दीर्घकालिक निधियों में बदल दिया जाए। विश्व के विकासशील देश किसी-न-किसी रूप में यह काम करते हैं, लेकिन हम नहीं करते। क्यों? हम अपनी हर समस्या के समाधान के लिए मुक्त बाजार अर्थव्यवस्थावाले देश अमेरिका की ओर देखते हैं, और यह भूल जाते हैं कि अमेरिका में आधे से अधिक परिवार शेयर बाजार में बाजी लगाते हैं, जबकि भारतीय परिवारों का बचत का केवल दो प्रतिशत ही शेयर बाजार में निवेश होता है। यदि सरकार अल्पकालिक बैंक निधियों को दीर्घकालिक निधियों में परिवर्तित करे तो हम 60 बिलियन डॉलर तक की राशि निवेश के लिए उपलब्ध करा सकते हैं।

विदेशी मुद्रा निधियों को भी भारत में निवेश अनुकूल निधियों में बदला जा सकता है, विशेषकर निर्यातकों के लिए। तिरुपुर के वस्त्र बनानेवाले लघु निर्यातक भी, जिन्हें दो अंकों में ब्याज देना पड़ता है, एक निलंब खाता (एस्क्रो अकाउंट) संचालित कर सकते हैं और उनकी निर्यात क्षमता के आधार पर उन्हें आधुनिकीकरण के लिए 4 या 5 प्रतिशत पर विदेशी मुद्रा ऋण दिए जा सकते रहेंगी। ऐसा होने पर जोखिम 'शून्य' हो जाएगा, क्योंकि उधारकर्ता विदेशी मुद्रा अर्जित करेंगे और चुकाएँगे भी विदेशी मुद्रा में। अत: आरक्षित निधियाँ सुरक्षित हैं। सरकार को 2 प्रतिशत से अधिक लाभ मिलेगा और निर्यातकों को 4 या 5 प्रतिशत ब्याज पर उधार मिल सकेगा—यह स्थिति दोनों के लिए लाभदायक होगी। अतएव सवाल यह नहीं है कि यदि एफ.डी.आई. नहीं तो कहाँ से लेकर

निवेश किया जाए, बल्कि सवाल इस बात का है कि निवेश कहाँ किया जाए?

सबक यह है कि पहले अपने ही निष्क्रिय धन का निवेश करें, फिर एफ.डी.आई. के लिए प्रयास करें। हमें एफ.डी.आई. की जरूरत तब होगी जब हमारे पास पूँजी का अभाव होगा। अभी हमारे पास भरपूर पूँजी है।

(15 जुलाई, 2004)

□

बंद करें यह रोना-धोना

हमारे अर्थशास्त्रियों तथा नीति-निर्माताओं को विदेशी निवेश की उत्कट चाहत या सनक न पहले थी और न अब है। यह सनक हीनभावना से जुड़ी होती है। हम चीन के सामने अपने आपको छोटा समझते हैं, क्योंकि हमें चीन की तुलना में बहुत कम विदेशी निवेश प्राप्त होता है। नीति-निर्माता और मंत्रीगण ही नहीं, आर्थिक स्तंभलेखक और संपादक भी यह सोचकर लज्जित होते हैं कि निवेश के रूप में हमें उतने डॉलर और यूरो नहीं मिल रहे हैं, जितने चीनियों को मिलते हैं। इस सोच ने एक तरह से राष्ट्रीय शोक, अखंड शोक की शक्ल अख्तियार कर ली है। लगभग एक साल पहले तक हमारे नीति-निर्माताओं ने अर्थशास्त्र को अंकगणित जितना छोटा कर दिया और दावे के साथ कहा कि सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में 8 प्रतिशत की वृद्धि हासिल करने के लिए हमें जी.डी.पी. के 32 प्रतिशत के बराबर निवेश उत्पन्न करने की जरूरत होगी। चूँकि हमारी बचत दर 24 प्रतिशत है—उस समय यही थी—हमें राष्ट्रीय बचत और निवेश के बीच की खाई को पाटने के लिए बाकी का प्रबंध विदेशी निवेश के रूप में करना होगा, ताकि अर्थव्यवस्था तेजी से विकसित हो सके। एक प्रभावशाली विशेषज्ञ ने तो यहाँ तक कह दिया कि 8 प्रतिशत की वृद्धि-दर हासिल करने के लिए हमें हर वर्ष 10 बिलियन डॉलर का विदेशी निवेश लाना होगा। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था ने ऐसे विशेषज्ञ सूत्रों को बार-बार असत्य प्रमाणित कर दिया। वर्ष 2003-04 में हमारे सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में 8.6 प्रतिशत की वृद्धि हुई। लेकिन एफ.डी.आई. विशेषज्ञों के अनुसार इस वृद्धि के लिए आवश्यक राशि का एक-तिहाई था। यह 4 बिलियन डॉलर से भी कम था। फिर भी विदेशी निवेश के लिए हमारे विशेषज्ञों का रोना बंद नहीं हुआ है। संपादकीय लिखनेवाले अभी भी इस बात को लेकर राष्ट्र को हीनभावना से पीड़ित करते रहते हैं कि विदेशी निवेशकों को आकृष्ट करने में चीन हमसे आगे है।

एक रोचक खुलासा। सन् 2003-04 में, राष्ट्रीय बचत 24 प्रतिशत नहीं थी, जैसा कि हमें बताया गया था, बल्कि 28 प्रतिशत से भी अधिक थी। उसके पहले के वर्ष, यानी सन् 2002-03 में भी यह 26 प्रतिशत के ऊपर रही थी। तब तक के राष्ट्रीय इतिहास में दर्ज 25 प्रतिशत की उच्चतम बचत का रिकॉर्ड सन् 1995-96 के नाम है। इससे पता चलता है कि जैसे-जैसे आमदनी बढ़ी, भारतीयों ने अधिक बचत करना शुरू कर दिया, उससे भी ज्यादा, जितनी पहले कभी नहीं की थी। बचत का यह हाल तब था जब सारे प्रयासों का जोर उनको अधिक खर्चीला बनाने पर लगा हुआ था। अत: डॉ. जगदीश भगवती का वह सिद्धांत यहाँ काम नहीं कर पाया, जो उन्होंने सन् 1993 में भारत सरकार को अपनी लिखित सलाह में प्रस्तुत किया था कि भारतीय व्यर्थ बचत करते हैं और उन्हें खर्च करने के लिए राजी किया जाना चाहिए। डॉ. भगवती ने भारतीय महिलाओं को बहुत ही कम खर्चीला पाया और उस समय के वित्तमंत्री डॉ. मनमोहन को सलाह दी कि महिलाओं को तड़क-भड़कवाला विदेशी माल, सौंदर्य-प्रसाधन तथा अन्य वस्तुएँ दिखाई जाएँ, ताकि वे खर्च करने की आदत डालें, बेकार बचत करना छोड़ें। लेकिन घर सँभालनेवाली, चतुर भारतीय महिलाओं ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादों से संबंधित सभी आकर्षक विज्ञापनों और सुरीले गानों का आनंद तो उठाया, पर अपनी जरूरत से ज्यादा चीजें खरीदने से इनकार कर दिया। भारत के लोग इसी तरह बचत करते हैं। उनकी आय बढ़े तो उनकी बचत भी ज्यादा होती है। वे खर्च करते हैं, लेकिन बचत हमेशा उनके व्यय से अधिक होती है। इसका कारण यह भी है कि वे अपनी वृद्धावस्था और कठिन समय के लिए बचाकर रखते हैं। वे सरकारी दान पर निर्भर नहीं रहते। इसके विपरीत, पश्चिम में लोगों को बचत के लिए प्रेरित करनेवाली कोई बात नहीं होती, क्योंकि उनके बुरे दिनों और बुढ़ापे में सरकार उनकी देखभाल करती है। भारत

सरकार इस मामले में भाग्यवान् है कि भारत की जनता अपनी देखभाल खुद करती है और वृद्धावस्था में यहाँ के लोग सरकार का दरवाजा नहीं खटखटाते। यही कारण है कि भारतीय लोग बचत करते हैं और इसी कारण से उन्हें बचत करने देना चाहिए। डॉ. भगवती यद्यपि भारतीय मूल के हैं, लेकिन उनकी सलाह अमेरिका में उनके अनुभव पर आधारित है।

यहाँ भी हम भारतीयों ने बचत संबंधी सभी आर्थिक नियमों को खारिज कर दिया है। आर्थिक नियम कहते हैं कि यदि ब्याज-दर अधिक हो तो लोग अधिक बचत करते हैं और ब्याज की दर कम होने पर वे कम बचत करते हैं। पिछले दो सालों में बचत खाते, बैंक जमा अर्थात् मीयादी जमा पर लागू ब्याज-दरों पर नजर डालें। पाँच वर्षों में ब्याज-दरें लगभग आधी हो गई हैं। लेकिन इसके बावजूद बचतों में वृद्धि हुई है, जो अर्थशास्त्रियों की इस धारणा को झुठलाती है कि ब्याज-दर घटने पर बचत घट जाती है और खर्च में बढ़ोतरी होती है। अत: उन जापानियों की तरह, जो बचत पर कोई ब्याज न मिलने पर भी नियमित रूप से बचत करते हैं, भारतीय भी बचत करने के आदी हैं। बचत कैसे की जाती है, यह उन्हें सिखाने की जरूरत नहीं। सरकार को ऐसी जनता का शुक्रगुजार होना चाहिए, और यदि सरकार को निवेश के लिए अधिक धन की आवश्यकता है, तो उसे लोगों को बचत करने लिए प्रेरित करना चाहिए, न कि खर्च करने के लिए। लेकिन इसके बजाय सरकार लोगों को खर्च करने के लिए प्रोत्साहित करने और विदेशी निवेश हेतु याचना करने की नीति पर चलना चाहती है, ताकि राष्ट्रीय बचत और अभीष्ट वृद्धि का लक्ष्य पाने के लिए आवश्यक निवेश के बीच की खाई को पाटा जा सके। क्या आप जानना चाहते हैं कि यदि हमें राष्ट्रीय विकास के लिए विदेशी टेक्नोलॉजी और आयातित मशीनें चाहिए तो राष्ट्रीय बचत को डॉलरों में कैसे बदलना चाहिए? इसका उत्तर आसान है। हम नहीं जानते कि हमें अपने निष्क्रिय विदेशी मुद्रा भंडार का क्या करना है। भारतीय व्यापारियों को विदेशी टेक्नोलॉजी लाने तथा नवीनतम मशीनें आयात करने की अनुमति दें, जिससे कि वे उद्योग स्थापित कर सकें और विदेशी मुद्रा का फलोत्पादक रूप से उपयोग हो सके। जब हमारे पास विदेशी मुद्रा का विपुल भंडार है और राष्ट्रीय बचत बहुत अधिक है, तब हमें विदेशी निवेश के लिए रोने-धोने की क्या आवश्यकता है? यह तो ऐसा ही है, जैसे रोटी बनाने के लिए आटे की लोई हाथ में होते हुए भी रोटी के लिए चीख-पुकार करना। इसके अलावा हम अपनी बचतों का पूरा-पूरा उपयोग निवेश के लिए नहीं कर पाए हैं। सन् 2003-04 में हमारा राष्ट्रीय निवेश 26.3 प्रतिशत था, जबकि बचत 28.1 प्रतिशत थी। इसका मतलब यह है कि हम की गई बचत का पूरा निवेश नहीं कर सके। फिर भी हम भारत में चीन के मुकाबले विदेशी निवेश की कमी पर आँसू बहाते रहते हैं। अत: अब समय आ गया है कि हमें विदेशी निवेश के लिए रोना-धोना बंद कर देना चाहिए। यदि आ जाता है तो ठीक है और यदि नहीं आता तो रोने की कोई जरूरत नहीं। क्या हम विदेशी निवेश के बारे में सनकी होना बंद करेंगे? क्या हमारे विशेषज्ञ यह तब सुन रहे हैं?

(17 फरवरी, 2005)

□

परंपरागत पारिवारिक मूल्य

और

भरण-पोषण का अर्थशास्त्र

परिवारों का राष्ट्रीयकरण और पानी का निजीकरण करें

परिवारों को 'समाज की मात्र मूल इकाई नहीं' कहा जा सकता। परिवार तो सर्वोत्तम हैं। वे हमारे समाज की क्षमताओं और कमजोरियों का मौलिक स्रोत हैं। जो भी सामाजिक समस्या हमारे सामने आती है, उसको पारिवारिक अस्थिरता के संदर्भ में देखा जाता है, अत: परिवार 'महत्त्वपूर्ण' होते हैं और इसीलिए उन्हें 'अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्था' माना जाता है।

इन शब्दों के साथ तीन सप्ताह पहले ब्रिटेन में कंजर्वेटिव पार्टी के नेता डेविड केमरॉन ने अपने देश के बारे में बड़े ही दु:खद विचार व्यक्त किए, जहाँ पितृहीन, यहाँ तक कि मातृहीन होते जा रहे, यानी पिताओं और माताओं द्वारा त्यागे जा रहे बच्चों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। केमरॉन ने एक नीति-निर्धारक समूह सेंटर फॉर सोशल जस्टिस के अध्यक्ष आइन डंकन स्मिथ से ब्रिटिश सरकार की सामाजिक सुरक्षा संबंधी नीतियों का अध्ययन करने के लिए कहा था।

डंकन स्मिथ ने एक माह पहले एक अंतरिम रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में उन्होंने उल्लेख किया कि ब्रिटिश परिवार किस प्रकार टूट रहे हैं और विवाह किए बिना सहवास कितना आम होता जा रहा है, और यह भी कि इस तरह की स्थिति कैसे सरकार पर एक सामाजिक सुरक्षा रूपी बोझ बनती जा रही है। इस रिपोर्ट को बड़ा ही उपयुक्त शीर्षक दिया गया है—'ब्रेकडाउन ब्रिटेन'। ब्रिटेन में 'पिता द्वारा छोड़े गए' परिवारों और 'पितृहीन' तथा 'मातृहीन' बच्चों की देखभाल पर होनेवाले व्यय 20 बिलियन डॉलर (रुपए में 90,000 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष) की पूर्ति सरकार द्वारा की जाती है। यह राशि भारत सरकार की कुल आय का लगभग 20 प्रतिशत है। स्मिथ का कहना है कि आधे से अधिक सहवासी दंपती अपने बच्चों का पाँचवाँ जन्मदिन मनाने से पहले ही एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं, लेकिन विधिवत् विवाह से उत्पन्न बच्चे के पाँचवें जन्मदिन से पूर्व अलग हो जाने की दर बारह विवाहों में एक है। विवाह के बिना साथ रहनेवालों द्वारा भले ही इसे पुरानी परंपरा कहकर इसका मजाक उड़ाया जाए, फिर भी विवाह की परंपरा आशा का दीप जलाए हुए है।

टूटे हुए एकल माता या पितावाले परिवारों से आनेवाले बच्चों की गुणवत्ता के बारे में रिपोर्ट में कहा गया है कि यदि किसी बच्चे का लालन-पालन माता और पिता दोनों के साथ एक परिवार में नहीं हुआ है तो उस बच्चे को नशीली दवाओं की लत पड़ने की आशंका 70 प्रतिशत अधिक बढ़ जाती है; इसी तरह शराब संबंधी समस्याओं में घिर जाने की आशंका अन्य बच्चों की तुलना में 50 प्रतिशत ज्यादा, कर्जा न चुका पाने की संभावना 40 प्रतिशत ज्यादा रहती है और बेरोजगारी की संभावना 35 प्रतिशत ज्यादा रहती है।

स्मिथ का कहना है, 'राजनीतिक बहस में ईमानदारी का मौलिक अभाव है।' राजनीतिक वर्ग ने 'समस्या की पहचान' कर ली है, लेकिन 'इस समस्या का जो कारण है—परिवारों का टूटना—उस पर चर्चा करने से इनकार कर दिया है।' स्मिथ आगे कहते हैं, 'यदि हम गरीबी और सामाजिक भार के कारणों का हल निकालने के बारे में गंभीर हैं, तब हमें परिवारों की सहायता करने और विवाहों को भी समर्थन देने के उपायों पर नजर डालनी होगी, ताकि दंपतियों, पति-पत्नी को मिल-बैठने और साथ-साथ रहने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके।'

स्मिथ के अनुसार हर नीति के लिए आसान सी परीक्षा यह होती है, 'क्या यह परिवारों की मदद करती है?' वह

परंपरागत पारिवारिक मूल्यों और भरण-पोषण योग्य अर्थशास्त्र के बीच एक सीधा संबंध रखते हैं। यह एक आर्थिक प्रश्न है, जो राजनीति शास्त्र को यंत्रणा देता है, लेकिन राजनीति शास्त्र के पास इसका कोई निदान नहीं है। स्मिथ और केमरॉन परिवारों को परंपरागत साँचे में ढालने के लिए अपनी मौन स्वीकृति देते हैं, लेकिन इस बात को खुलकर कहने से डरते हैं। ऐसे परिवार सदियों से हर जगह मौजूद रहे थे, लेकिन पिछले दस-बीस वर्षों में ये परिवार ब्रिटेन में और सामान्यत: पश्चिम में टूटने लगे। यह कैसे हुआ? क्योंकि अत्यधिक व्यक्तिगत अधिकार-केंद्रित जीवन को 'आधुनिकता' के रूप में महिमामंडित किया जाता है। यहाँ पुरुषों के अपने अधिकार होते हैं, महिलाओं के अपने अधिकार हैं, इसी तरह वरिष्ठ लोगों और बच्चों के भी अपने-अपने अधिकार होते हैं, लेकिन सामूहिक रूप से सभी का प्रतिनिधित्व करनेवाले परिवार का कोई अधिकार नहीं होता और न ही समाज का कोई अधिकार है।

आधुनिक पाश्चात्य संविधानवाद में, पुरुष और स्त्री का अलग-अलग व्यक्तिगत अस्तित्व है, लेकिन परिवार और समाज का नहीं है। किंतु जब राज्य अधिकार प्रदान करता है, तब इने-गिने लोग ही यह महसूस करते हैं कि अधिकारों की कीमत परिवार और समाज को चुकानी पड़ती है। परिवार जब अपनी वैधता खो बैठते हैं और उसके कारण कमजोर हो जाते हैं तो राज्य उन परिवारों के निजी कार्यों को सँभालने के लिए बाध्य हो जाता है। इस तरह परिवारों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है और उनके कार्य सरकार के विभागीय मामले बन जाते हैं, जबकि यह एक निजी मामला होता है।

विडंबना यह है कि पश्चिम में वही देश अपने सभी सरकारी कार्यों, अर्थात् जल आपूर्ति, सड़क निर्माण, नगरपालिका सेवाओं और अन्य जन-सुविधाओं आदि का निजीकरण कर रहा है तथा दूसरों को भी वैसा ही करने के लिए कह रहा है। इसी का परिणाम है कि पश्चिम में अर्थशास्त्र उलटा हो गया है और सिर के बल खड़ा है, क्योंकि वहाँ निजी परिवारों का राष्ट्रीयकरण और सरकारी कार्यों का निजीकरण किया जा रहा है। पश्चिम में बाजार अर्थशास्त्र का यही मूलभूत सिद्धांत है। यह व्यक्तियों को परिवारों की कीमत पर, खपत को बचत की कीमत पर और अंतत: वर्तमान को भविष्य की कीमत पर बढ़ावा देता है।

वैश्वीकरण के अभिन्न अंग के रूप में पश्चिम के इस विकृत अर्थशास्त्र को यहाँ भारत में बेचा जा रहा है, जहाँ परिवार उस बोझ को वहन करना अपनी जिम्मेदारी और निजी मामला समझते हैं, जिसे पश्चिमी देश सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के तहत अपने ऊपर ले लेते हैं। क्या हमारे अर्थशास्त्री, बुद्धिजीवी और प्रचार-माध्यम अपनी स्थिति पर पुन: विचार करेंगे, जिससे कि भारत को ब्रिटेन और शेष विश्व की तरह पीछे की ओर न धकेला जा सके?

(3 जनवरी, 2007)

□

घर तोड़ो, अर्थव्यवस्था का सत्यानाश करो

'महिलाओं द्वारा पतियों का उत्पीड़न' शीर्षक से हाल ही में खोली गई वेबसाइट के समाचार-पत्र के एक खंड में एक समाचार-विश्लेषण का शीर्षक इस प्रकार था—'महिलाएँ दहेज उत्पीड़न से निपटने के हथियार को अब मनमानी का साधन बना रही हैं।'

इस विश्लेषण से एक चौंकानेवाला तथ्य प्रकाश में आया कि सन् 2005 में, चेन्नई में सिटी पुलिस के दहेज-विरोधी सेल में दर्ज की गई 260 शिकायतों में से 200, लगभग 77 प्रतिशत शिकायतें झूठी पाई गईं। सन् 2006 में फर्जी शिकायतों की संख्या में भी कोई कमी होती नहीं दिखी, बल्कि उनमें और वृद्धि हो गई तथा अक्तूबर तक 285 शिकायतों में से 220 यानी 77 प्रतिशत से अधिक शिकायतों को झूठा पाया गया। हर 60 में से केवल 5 शिकायतें ही वास्तविक थीं।

इन शिकायतों का उद्देश्य स्पष्ट था—पति के माता-पिता को घर से खदेड़ना। विश्लेषण में कहा गया कि अनेक मामलों में पति-पत्नी को समझा-बुझाकर साथ रहने के लिए राजी करने में पुलिस सफल रही। रिपोर्ट के अनुसार पति उत्पीड़न के शिकार हैं। यह एक पक्ष है।

उसी दिन (14 नवंबर, 2006) इस समाचार-पत्र के महिला खंड में 'उत्पीड़ितों के लिए कारवाई का समय' शीर्षक के अंतर्गत यह विश्लेषण प्रकाशित हुआ—'स्त्री का जीवन, विषय का दूसरा पक्ष—पतियों द्वारा अमानवीय ढंग से प्रताड़ित महिलाओं की दिल दहलानेवाली कहानियाँ'। यहाँ उत्पीड़न की शिकार पत्नियाँ थीं। इस विश्लेषण में आगे बताया गया कि नया कानून, 'महिलाओं के विरुद्ध घरेलू हिंसा निवारण अधिनियम', किस तरह उत्पीड़ितों, दुर्व्यवहार की शिकार पत्नियों को राहत प्रदान कर सकता है, लेकिन उस लेख में यह चेतावनी भी थी—बशर्ते कि वे कारवाई करें। लेख में यह प्रश्न उठाया गया—क्या वे अपने खोल से बाहर आएँगी और कारवाई करेंगी, कानून का इस्तेमाल करेंगी? यदि वे ऐसा नहीं करती हैं तो कानून कागज तक ही सीमित रहेगा।

दोनों विश्लेषण संयोगवश महिलाओं द्वारा लिखे गए हैं, पर एक-दूसरे के विपरीत हैं। दोनों को एक साथ पढ़ें, दोनों विश्लेषण वर्तमान और उभरते तथ्यों को सामने रखते हैं, अर्थात् रूढ़िवादी पुरुष महिलाओं का उत्पीड़न करते हैं, लेकिन दूसरी ओर आधुनिक महिलाएँ भी पुरुषों को उतना ही उत्पीड़ित करती हैं। अधिकतर आधुनिक महिलाओं ने अपने अंदर झाँकने की उस परंपरा को पीछे छोड़ दिया है, जो उन्हें कमजोर बनाती है। फिर भी सार्वजनिक भाषणों में यही कहा जाता है कि सभी महिलाएँ अभी भी परंपरावादी हैं, विनम्र हैं और पुरुष ही स्त्रियों को सताते हैं।

इस भाषणबाजी का नेतृत्व आधुनिक महिलाओं द्वारा किया जाता है। इनमें से अधिकतर उन परंपराओं का दायित्व नहीं उठातीं जो स्त्रियों के मार्ग में बाधा समझी जाती हैं। झूठी शिकायतों से पता चलता है कि नए कानूनों से शक्ति प्राप्त आधुनिक महिलाओं द्वारा पतियों को इसलिए उत्पीड़ित किया जाता है, कि उन्हें पति के माता-पिता को साथ रखना होगा। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक परिवारों में जिस बात को लेकर कलह-विवाद होता है, उसका कारण एकल बड़ा परिवार है। सवाल यहाँ मर्द-औरत का नहीं, बल्कि परिवार का है।

भारत में परिवार मूलभूत सामाजिक-आर्थिक इकाई है, जिसे संस्कृति मजबूत बनाती है। यह अपने सदस्यों, युवा और वृद्ध दोनों की सामाजिक सुरक्षा की देखभाल करती है। नया कानून पश्चिम के कानूनों की तर्ज पर बनाया गया है, लेकिन उसमें पृष्ठभूमि की भिन्नता पर विचार नहीं किया गया। पश्चिम में जहाँ भारतीय धारणा जैसे परिवार नहीं हैं; वहाँ वृद्ध, अशक्त और बेरोजगार लोगों की सामाजिक सुरक्षा की देखभाल राज्य द्वारा की जाती है।

भारत में परिवार ही अपने बिरादराना अथवा सामुदायिक जुड़ावों के साथ सामाजिक पूँजी का रूप लेता है और वही वास्तविक सामाजिक सुरक्षा कवच बनता है। भारतीय प्रबंध संस्थान (आई.आई.एम.), बंगलुरु के प्रोफेसर आर. वैद्यनाथन ने एक लेख में कहा है—'सीमित सामाजिक सुरक्षा और एक विशाल असंगठित श्रमित दल के साथ, सामाजिक पूँजी—परिवार एवं सामुदायिक जुड़ाव—भारत में वृद्ध लोगों के लिए सर्वोत्तम सुरक्षा कवच है। इस पूँजी का परिपोषण करके ही देश को सामाजिक संकट से बचाया जा सकता है।'

उच्चतम न्यायालय ने स्वयं महसूस किया है कि धारा 498-क में दहेज-विरोधी प्रावधान जैसे इकतरफा कानूनों का दुरुपयोग किया जा रहा है और घरेलू हिंसा निवारण अधिनियम जैसा नया कानून परिवारों को बरबाद करने के लिए ही बनाया गया लगता है। ये कानून उस बहू को परिवार तोड़ने का निमंत्रण देते हैं, जो अपने पति के माता-पिता की सामाजिक सुरक्षा में योगदान करना नहीं चाहती है।

यह कानून सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था को तोड़ देता है। उस स्थिति में सरकार को सामाजिक सुरक्षा के इतने विशाल बोझ को सँभालना पड़ेगा, जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता। जो सरकार अपने ही साधारण कार्यों को सँभाल नहीं सकती, उसे परिवार के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए। लेकिन इस बात को समझने के लिए समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र, दोनों के संबंध में एक भारतीय दृष्टिकोण अपनाना जरूरी है। यह कार्य हमारे उन समाजशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों के लिए शायद मुश्किल जरूर है, जो भारत को समझने के लिए पश्चिम की ओर ताकने के लिए तत्पर रहते हैं।

(18 दिसंबर, 2006)

□

आात्महत्या करते किसान

और

निर्लज्ज विदेशी

खेती-बाड़ी से दूर भागते किसान

मई 2006 में इरोड में हुए एक किसान सम्मेलन में हमने जो कुछ देखा और चेन्नई के समाचार-पत्रों में उससे पहले जो पढ़ा, दोनों में कितना अंतर है—'जून के महीने में मेत्तूर बाँध 100 फीट के ऊपर।'

तमिलनाडु और कर्नाटक के बीच वार्षिक राजनीतिक युद्ध के पहले खेती के लिए बाँध का पानी छोड़ा जाना संदेहपूर्ण।' 'पिछले 25 वर्षों में खेती के लिए पानी जून में कभी भी नहीं छोड़ा गया।' 'किसान खुशी से पागल हो जाएँगे और पानी आने का जश्न मनाएँगे—पानी ही तो खेती की जीवन-रेखा है।' इन प्रतिक्रियाओं से पता चलता है कि चेन्नई से राजनेता और प्रचार माध्यम तमिलनाडु कृषि क्षेत्र के लिए किस तरह आगामी वर्ष को एक स्वर्णिम युग के रूप में देख रहे हैं।

लेकिन इरोड जिला से अलग-अलग संगठनों का प्रतिनिधित्व करनेवाले 150 से अधिक किसानों की एक बैठक में अविश्वसनीय वैषम्य सामने आया। इरोड में खेती-बारी अच्छी होती है और किसान समृद्ध हैं, ऐसा माना जाता है। कोई भी आशा कर सकता था कि मेत्तूर बाँध से पानी आने की खबर के साथ माहौल में खुशी छाई होगी। लेकिन जैसे-जैसे किसानों ने बोलना शुरू किया, कुछ और ही सुनने को मिला, जो चकित करनेवाला था। उन्होंने कहा, 'महोदय, हमारी समस्या है कि पानी छोड़ा जा रहा है। इस कारण हमें खेती-बाड़ी शुरू करनी पड़ेगी। यदि पानी नहीं छोड़ा जाता तो हमारे पास बहाना होता कि हम जुताई, बोआई शुरू कैसे करें। लेकिन अब हम इस उलझन में हैं कि क्या किया जाए?'

वे खेती, मसलन धान की खेती आरंभ करने से क्यों डरते हैं, जब पानी जरूरत से ज्यादा उपलब्ध है? 'श्रीमान्, वही तो हमारी समस्या है। यदि हम धान लगाते हैं तो निश्चय ही हमें नुकसान होगा। हमारी निविष्टियों की कीमत इतनी अधिक है, उर्वरक इतने महँगे हैं, धान का मूल्य इतना कम है, हमें कर्ज लेना पड़ता है।'

लेकिन सरकारी समर्थन मूल्य के बारे में आपका क्या कहना है?

'महोदय, हम उसी मूल्य के बारे में बात कर रहे हैं। सन् 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में एक स्वर्ण मुद्रा का मूल्य और एक क्विंटल चावल का मूल्य बराबर होता था। आज श्रीमान्, स्वर्ण-मुद्रा का मूल्य एक क्विंटल चावल के मूल्य का छह गुना हो गया है।' अपनी द्विविधा का बयान वे इस तरह करते हैं। सरकारी आँकड़े बताते हैं कि पिछले दशक में रहन-सहन की लागत में यद्यपि 100 प्रतिशत वृद्धि हुई है, फिर भी चावल के थोक भाव में सिर्फ 68 प्रतिशत की वृद्धि हुई, गेहूँ का थोक भाव 84 प्रतिशत, चाय का 31 प्रतिशत और कपास का 66 प्रतिशत बढ़ा।

वे ठीक कहते हैं। कृषि-उत्पादों के मूल्य उतने नहीं बढ़े, जितनी मुद्रास्फीति बढ़ी है। 'श्रीमान्, यही वजह है कि हम पानी के आने से चिंतित हैं।' लेकिन पानी के आने से इतनी चिंता क्यों? 'श्रीमान्, पानी उपलब्ध होने पर यदि हम खेती न करें तो हम अपने गाँवों में आत्मसम्मान के साथ नहीं रह सकते। गाँव के लोग हमारी हँसी उड़ाएँगे।' जैसे रात के बाद दिन का होना निश्चित है, उसी प्रकार उनका नुकसान भी निश्चित है, फिर भी उन्हें गाँव में अपना सम्मान बनाए रखने के लिए खेती करनी पड़ेगी। उनके छोटे से गाँव में उनकी इज्जत ही उनका जीवन है। यही कारण है कि किसान जब अपना उधार नहीं चुका पाते हैं तो वे आत्महत्या कर लेते हैं। लेकिन एक उद्योगपति, अधिक चतुर होने के कारण, पुनर्वास पैकेज की माँग करेगा। ये किसान इतने अनपढ़ भी नहीं हैं कि उन्हें खेती-बाड़ी के सही तरीकों की जानकारी न हो और इसी वजह से उन्हें खेती में नुकसान भुगतना पड़ता हो। जितने लोगों ने अपनी बात कही, उनमें से अधिकतर कॉलेज-शिक्षित थे, दो एडवोकेट थे। तब उनके बच्चे क्या करते हैं? 'सर,

हमारे सारे लड़के गाँव छोड़कर चले गए हैं। उन्होंने हमसे कह दिया कि वे अपनी जिंदगी नुकसान देनेवाली खेती में बरबाद नहीं करेंगे।' कहाँ हैं वे? कुछ योग्यताप्राप्त पेशेवर (सॉफ्टवेयर तथा अन्य) विदेश चले गए हैं और उनमें से अधिकतर अब शहरी हो गए हैं तथा अर्थशास्त्रियों के अनुसार विकसित व्यक्ति कहलाते हैं। वे अपने माता-पिता को अपनी जमीनें बेचकर गाँव छोड़ देने के लिए कह रहे हैं। पुराने लोगों का अपनी परंपराओं से जुड़े रहने का हठ उन्हें वहीं रोके हुए है जहाँ वे हैं। 'सर, हमारे गाँवों में आएँ और खुद देखें, आपको 20-40 आयु वर्ग के लोग मुश्किल से ही देखने को मिलेंगे। सिर्फ बूढ़े लोग, बच्चे और औरतें रह गई हैं।' उन्होंने यह भी कहा, 'किसी भी युवा किसान को विवाह के लिए लड़की नहीं मिलेगी। एक किसान भी अपनी बेटी या बहन का विवाह किसी दूसरे किसान से नहीं करेगा। आजकल खेती करनेवालों को यही सम्मान मिलता है।'

हाल ही में घोषित ऋण राहत उपायों के बारे में आपके क्या विचार हैं? 'सर, कर्जों के साथ ही हमारी समस्याओं की शुरुआत हुई। सन् 1960 के दशक तक हम बहुत कम उधार लिया करते थे। सन् 1960 वाले दशक के अंतिम वर्षों में सरकारी पदाधिकारी हमारे पास आए और हमसे आग्रह करने लगे कि अच्छी पैदावार के लिए हमें रासायनिक उर्वरक खरीदने व इस्तेमाल करने चाहिए और रासायनिक खाद की खरीद के लिए हमें ऋण मिल सकता है। इस तरह हम ऋणों के जाल में फँस गए। बेशक, हमें अच्छी उपज मिली, लेकिन उसे हमने कम मूल्यों पर बेच दिया, जिसके कारण हमें और भी नुकसान उठाना पड़ा।' वे कहते गए, 'सर, यह ऋण राहत हमारे ऊपर कर्ज का बोझ और बढ़ा देगी, जिससे निपटने के लिए और राहत की जरूरत होगी। जब तक कृषि उत्पाद मूल्यों में वृद्धि नहीं होगी, तब तक कोई उपाय काम नहीं करेगा। लेकिन वैसा वास्तव में कभी नहीं होगा, क्योंकि उसके फलस्वरूप शहरों में रहन-सहन की लागत बढ़ जाएगी।' वे बिना रुके अपनी बात कहते चले गए। इरोड का उदाहरण सिर्फ एक कहानी या किस्सा नहीं है। यह भारतीय कृषि का एक उभरता नमूना है।

कई दशक पहले, लालबहादुर शास्त्री ने किसानों के सम्मान में नारा दिया था 'जय किसान'। आज बहुत से युवा भारतीयों को उसके बारे में कुछ भी पता नहीं होगा। शास्त्रीजी ने किसानों को भूख से लड़नेवाले योद्धा कहकर उनका मान बढ़ाया था। ये योद्धा जिन्होंने ऊँची कीमत पर खेती-बाड़ी करके भारत से भूख को मिटाया, आज खेती करने से डरते हैं, बल्कि यूँ कहें कि खेती करने में शर्म महसूस करते हैं। राष्ट्र ने उन्हें लगभग भुला दिया है। फिर भी, उनकी अंतिम पीढ़ी अभी भी खेती-बाड़ी से ही चिपकी हुई है, जबकि उनके बेटों ने इसे पूरी तरह छोड़ दिया है। इससे पहले कि बहुत देर हो जाए, क्या राष्ट्र जागेगा? क्या सरकार और वह विशिष्ट वर्ग, जिनकी नजर सिर्फ बी.एस.ई. सूचकांक पर रहती है, कृषि उत्पादों और किसान की आत्महत्याओं के सूचकांक पर भी दृष्टि डालने का कष्ट करेगा?

(27 जून, 2007)

□

विदेशी, हकीकत से अनजान

और भारतीय किसान

मनमोहन उत्कृष्ट 'रिफार्मर' (refarmer)। एक प्रमुख दैनिक ने मनमोहन सिंह का इन शब्दों में गुणगान किया। 'रिफार्मर' शीर्षक द्विअर्थी होने पर ध्यान दें। समाचार-पत्र ने उनको यह उपाधि उस एकमुश्त राहत कार्यक्रम के लिए दी, जो उन्होंने महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र के सहायतार्थ बनाया था, जहाँ किसानों की आत्महत्याओं का औसत मई, 2006 में प्रतिदिन तीन तक पहुँच गया था। मनमोहन सिंह, रिफार्मर (सुधारक) को मनमोहन सिंह, रिफार्मर (पुन: किसान) बनाने में अकेले विदर्भ क्षेत्र को पिछले एक वर्ष के दौरान जो कीमत चुकानी पड़ी, उसमें सिर्फ 500 आत्महत्याएँ और 3,750 करोड़ रुपए की राशि शामिल है। आमतौर पर किसानों की आत्महत्याओं की घटनाओं को प्रकाश में लाना कभी भी महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता है, क्योंकि ये घटनाएँ दूर-दराज के स्थानों में होती हैं और एक दिन में एक या दो ही होती हैं। विदर्भ में हुई ये दु:खद घटनाएँ कभी राष्ट्र स्तर पर चर्चा का विषय नहीं बन पातीं यदि विदर्भ में किसानों के एक संगठन 'जन आंदोलन समिति' ने किसानों की आत्महत्याओं का लेखा-जोखा एक रजिस्टर में यत्नपूर्वक लिखकर नहीं रखा होता, जिसे 'मौतों का रजिस्टर' कहा गया और जिसमें दर्ज रिकॉर्ड ने राष्ट्र की चेतना को हिलाकर रख दिया। रजिस्टर के अनुसार, कपास उपज सन् 2005 से मई 2006 तक कुल 540 घटनाएँ हुईं। उनमें से तीन-पंचमांश घटनाएँ जनवरी और मई 2006 के बीच और 80 से ज्यादा घटनाएँ अकेले मई के महीने में हुईं। समिति ने इन घटनाओं को प्रकाश में लाकर देश को चौंका दिया, ताकि सरकार का ध्यान उन पर जा सके। प्रधानमंत्री को यह जानने के लिए विदर्भ जाना पड़ा कि भारतीय खेती-बाड़ी और किसानों के साथ क्या हो रहा है। इसका कारण कहीं-न-कहीं उनकी प्रेरणा से बनी नीतियाँ हैं।

प्रधानमंत्री ने उनके लिए 3,750 करोड़ रुपए की राहत का ऐलान किया और प्रधानमंत्री को 'रिफार्मर' का नया खिताब मिला। प्रधानमंत्री ने दैनिक को यह भी बताया कि 'समावेशित विकास' कितना महत्त्वपूर्ण है। यह घिसी-पिटी बात साबित करती है कि पंद्रह वर्षों के विकास में किसान शामिल नहीं थे। समस्या यह है कि ठीक वही सुधार भारतीय कृषि के लिए बड़ा खतरा भी है, जैसे कि विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.)। प्रधानमंत्री जब राहत की घोषणा करके और नया खिताब हासिल करके राजधानी लौट आए, उसके अगले दिन ही उन्होंने उसी समाचार-पत्र में पढ़ा, 'प्रधानमंत्री वापसु: स्थिति और भी विषादपूर्ण, राज्य में चार और किसानों ने की खुदकुशी।' विडंबना यह है कि उसी दिन समाचार-पत्रों ने जोरदार प्रचार किया था कि 'मनमोहन सिंह का समावेशित विकास का मंत्र बड़ा ही कारगर नुस्खा है' और प्रधानमंत्री के विश्वसनीय सहायक, मॉण्टेक सिंह अहलूवालिया के इस बयान को प्रकाशित किया, 'कि तीव्र विकास के साथ-साथ समावेशन प्राप्त करना सबसे बड़ी चुनौती है।' राहत के बावजूद आत्महत्याओं का सिलसिला न थमने के संदर्भ में भारतीय काश्तकारी पर मनमोहन-मॉण्टेक—परमोत्कर्ष प्रवचन स्पष्ट संकेत करता है कि ग्रामीण बीमारी का इलाज अंग्रेजी दवाओं से नहीं किया जा सकता।

काफी समय पहले भारतीय विशिष्ट वर्ग की दृष्टि में डॉ. सिंह भारतीय आर्थिक सुधारों के आदम और स्मिथ अर्थात् प्रवर्तक एवं निर्माता दोनों थे। मनमोहन शास्त्र (मनमोहनॉमिक्स) सुधारों की बाइबल बन गया और उसका पालन न करना विधर्मी, सुधार विरोधी कहा जाने लगा। लेकिन मनमोहन द्वारा निर्धारित सिद्धांतों में से अधिकतर

अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष (आई.एम.एम.) या विश्व बैंक की अपेक्षाओं के अनुरूप थे। डॉ. सिंह की अच्छी बात यह थी कि उन्होंने स्वेच्छा से वह सब किया, जिसे करने के लिए उक्त बैंक और फंड ने भारत पर दबाव डाला होता; इस तरह उन्होंने हमारी प्रभुसत्ता की रक्षा की। डॉ. सिंह और उनके विश्वसनीय सहायक मॉण्टेक ने अपने जीवन के कुछ सबसे अच्छे वर्ष भारत से दूर, विदेश में बिताए थे, जब वे अधिक सतर्क, फुरतीले और सीखने के इच्छुक थे। उसमें से भी उनका अधिक समय वर्ल्ड बैंक और आई.एम.एफ. के साथ बीता था। फिर भी आश्चर्य की बात है कि न तो पश्चिम, न बैंक और फंड, न ही सिंह जोड़ी ने किसी भी चीज का कोई ऐसा अनुभव प्राप्त किया है जिसकी तुलना भारतीय कृषि या भारतीय गाँवों या किसानों और भारतीय खेती-बाड़ी की जटिलता से की जा सके।

अत: भारत के दो प्रमुख नीति-निर्माताओं ने अपने सुधार संबंधी नमूनों के बारे में बहुत कुछ पश्चिम के कृषि-औद्योगिक और ग्रामीण-शहरी जनांकिकी से सीखा, जो भारतीय परिस्थितियों से सर्वथा भिन्न है। उदाहरण के लिए, यहाँ के विशिष्ट अर्थशास्त्री जिस देश से प्रेरणा ग्रहण करते हैं, उस देश यानी अमेरिका में वहाँ की कुल आबादी के 2 प्रतिशत से भी कम लोग खेती-बाड़ी करते हैं। वहाँ ग्रामीण जनसंख्या नाम की कोई चीज नहीं है। उच्चतम ग्रामीण गतिविधि वाला पश्चिमी देश फ्रांस है, जहाँ की 10 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर करती है। सही बात है, पश्चिम में शहरीकरण को विकास कहा जाता है। भारत की स्थिति एकदम विपरीत है। 70 प्रतिशत से अधिक भारतीय गाँवों में रहते हैं। उनमें से दो-तिहाई से अधिक कृषि पर निर्भर हैं।

यहाँ की शहरी जनसंख्या भी अधिकतर ग्रामीण परिवारों से संबंध रखती है, जिसके कारण ग्रामीण-शहरी विभाजन काले-सफेद जैसा स्पष्ट नहीं है। इसके अलावा भारतीय कृषि का ज्यादा हिस्सा अपनी खपत के लिए होता है, लाभ के लिए नहीं। जी हाँ, भारत में खेती अलग किस्म की है, उसकी समानता पश्चिमी कृषि से नहीं की जा सकती। फिर भी हम उलझन में रहते हैं कि अपने गाँवों को हम अपने विकास की योजना में कहाँ रखें। भारत में ग्रामीण आबादी का शहरों की ओर प्रवास करना यद्यपि एक ओर तो आर्थिक, पारिस्थितिक और सामाजिक दृष्टि से दुर्भाग्यपूर्ण एवं अनर्थकारी समझा जाता है, वहीं दूसरी ओर शहरीकरण को विकास का सूचक माना जाता है। वास्तव में दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अत: जिसे हम विकास कहकर बढ़ावा देते हैं, वह तात्त्विक रूप से विनाश की निशानी है। इस विवाद ने उरुग्वे वार्त्ता के विषय में हमारे दृष्टिकोण को विकृत कर दिया। उसी वार्त्ता के फलस्वरूप 'विश्व व्यापार संगठन' अस्तित्व में आया, जहाँ हमने अपनी कृषि-अर्थव्यवस्था के लिए विशेष दर्जे की माँग करने के बजाय, पश्चिम के साथ बराबरी का दर्जा माँगा। नतीजा, उन्होंने अपनी कृषि का हमसे बचाव किया, लेकिन हमने अपनी कृषि को उनके लिए खुला छोड़ दिया। अत: हमें हमारे कृषि-उत्पादों के निर्यात की मंजूरी नहीं दी गई, आंतरिक सुधारों के चलते ग्रामीण आय और कृषिक मूल्यों को जबरन नीचे रखा जा रहा है, और इन्हीं कारणों से हमारी कृषि अलाभकर होती जा रही है। यही वास्तविक संकट है।

खेदजनक, लेकिन सच, प्रधानमंत्री और उनके सलाहकार को ग्रामीण भारत के बारे में अनुभव की कमी है। हालाँकि, लालू प्रसाद यादव को गाँवों और उनकी अर्थव्यवस्था के बारे में विशेष ज्ञान हो सकता है, मनमोहन या मॉण्टेक ग्रामीण भारत के बारे में नौसिखिआ हैं। निर्णयकर्ता को भारत की जानकारी नहीं है और जानकार कोई निर्णायक नहीं हो सकता। भारतीय शासन-प्रणाली की यही कठोर वास्तविकता है। और सोने पर सुहागा यह कि उनकी नेता सोनिया, जिन्हें प्रधानमंत्री से भी ऊपर का दर्जा दिया जाता है और 'सुपर पी.एम.' कहा जाता है, भारत में पैदा नहीं हुईं। वह जन्म से ही विदेशी हैं और ग्रामीण क्षेत्रों से उनका उतना ही दूर का नाता है जितना प्रधानमंत्री और उनके सलाहकार का। क्या विदेशी नेता और जमीनी हकीकत से दूर प्रधानमंत्री तथा उनके सलाहकार भारतीय

किसानों की समस्याओं का समाधान निकाल सकते हैं?

□

क्या नंदीग्राम विशेष

आर्थिक क्षेत्रों का वाटरलू है?

'बुद्ध की पुलिस ने 12 को मारा।' हाल ही में समाचार-पत्रों में मुख्य समाचार यही हुआ करता था। ये संख्या उन ग्रामीणों की होती थी, जो नंदीग्राम में पश्चिम बंगाल पुलिस की गोली से मारे जाते थे। वास्तव में यह मारे गए लोगों का अंतिम आँकड़ा नहीं है, क्योंकि सी.पी.एम. सरकार के आँकड़े विवादास्पद हैं। नंदीग्राम की गोलीबारी किसी दूसरी पुलिस या किसी दूसरी पार्टी की काररवाई जैसी नहीं है। नंदीग्राम के ग्रामवासी सरकार को अपने गाँव में इसलिए नहीं आने दे रहे थे, क्योंकि उन्हें डर था कि सरकार उनकी जमीनें छीन लेगी। कैसा अपकर्ष, कैसा उतार!

यदि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने राज्य में मानो हमेशा के लिए सत्ता में जड़ें जमाई हुई हैं, तो उसका एकमात्र कारण यह है कि इसने अपना जुझारूपन दिखाते हुए शोषणकारी जमींदारों से खेती योग्य जमीन अधिग्रहित करके उन्हें भूमिहीनों के बीच बाँट दिया। नंदीग्राम में वैचारिक अपकर्ष यह है कि वही सरकार, जिसने 'शोषणकर्ता जमींदारों' से जमीनें अधिग्रहित करके, छोटे-छोटे किसानों-मजदूरों को वितरित कीं, वही अब उन जमीनों को जबरन दुबारा अपने कब्जे में ले रही है, ताकि वह सारी-की-सारी जमीन 'शोषणकारी पूँजीपतियों' को सौंपी जा सके। सी.पी.एम. द्वारा नंदीग्राम में ग्रामवासियों की हत्या करके उनकी जमीनें हथियाना और उन जमीनों को बड़ी कंपनियों को सौंप देने का कार्य सी.पी.एम. समर्थकों और विरोधियों, दोनों के लिए वैसा ही है जैसे भारतीय जनता पार्टी (बीजेपी) द्वारा अयोध्या में ध्वस्त की गई मसजिद का पुनर्निर्माण। ऐसी राजनीतिक उलट काररवाई के विस्फोटक परिणामों को कोई भी समझ सकता है। नंदीग्राम की घटनाओं का क्या परिणाम होगा और यह घटनाक्रम पश्चिम बंगाल की राजनीति तथा सी.पी.एम. को वहाँ और अन्यत्र किस दिशा में ले जाएगा, ये सब बातें अभी सोच के परे हैं। लेकिन एक बात साफ लगती है। सिंगूर में सरकारी-उत्पीड़न के कारण आरंभ हुआ आत्महत्याओं का सिलसिला, जिसकी परिणति नंदीग्राम में पुलिस की गोलीबारी से हुई हत्याओं में देखने को मिली, बुद्धदेव भट्टचार्य के भावी राजनीतिक जीवन पर गाज बनकर गिरा है; क्योंकि अब इस बात की संभावना समाप्त हो गई है कि वह भारतीय साम्यवाद के डेंग बन पाएँगे। यह बंगाल के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है, शायद भारत के लिए भी। लेकिन इसमें दोष भारत के आर्थिक पंडितों का है। वे एक अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र के रूप में भारत के गूढ़ निहितार्थों को समझने में विफल रहे हैं, जिनके रहते मार्क्सवादी नेतृत्ववाले बंगाल में वांछनीय परिवर्तनों को भी नकारा जाता है।

बंगाल दो तरह से बदकिस्मत है। पहले यह सैद्धांतिक अर्थशास्त्र का शिकार था और आज यह अभिजातवादी अर्थशास्त्र का शिकार है। लेकिन नंदीग्राम ने जिस विषय को उछाला है, वह केवल बंगाल विशिष्ट नहीं है। आनेवाले समय में इसका पूर्ण प्रभाव सी.पी.एम. और पश्चिम बंगाल पर भी नजर आएगा। नंदीग्राम भले ही पश्चिम बंगाल में आर्थिक उदारवाद पर निर्णायक प्रहार हो, लेकिन इससे भी ज्यादा, यह विशेष आर्थिक क्षेत्रों (एस.ई.जैड.) संबंधी अर्थशास्त्र पर अंतिम व निर्णायक प्रहार हो सकता है, जिसे भाजपा से लेकर सी.पी.एम. तक के नेतृत्ववाले सभी राज्यों का जबरदस्त प्रोत्साहन मिला है। इस विषय को गंभीर विस्तार मिल रहा है। फिर भी देश में अनेक बहुविज्ञ व्यक्तियों को कतई ज्ञान नहीं है कि ग्रामीण भारत के लिए विआक्षे (एस.ई.जैड.) का क्या मतलब है और जिस देश में भूमि की कमी हो, वहाँ इसे ठीक से सँभाल न पाने के क्या परिणाम हो सकते हैं?

विशेष आर्थिक क्षेत्र (विआक्षे) की अवधारणा में जो समस्या है, वह स्वामित्व की है और ग्रामवासियों की कृषिभूमि का इस्तेमाल उन्हीं की जगह पर करने की है। कृषि का संबंध भारत की दो-तिहाई जनसंख्या से है; इस जनसंख्या के एक भाग के पास अपनी जमीनें हैं, और बाकी लोगों के पास यद्यपि अपनी भूमि तो नहीं है, फिर भी वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए कृषिभूमि पर निर्भर करते हैं। यदि भारतीय आर्थिक विशेषज्ञ नंदीग्राम कांड को एक किस्सा या कहानी के रूप में खारिज करते हैं, उसे कठोर विचारधारावाली सी.पी.एम. के नरम रुख पर लोगों की स्तब्ध प्रतिक्रिया बतलाते हैं, तो वे शीघ्र ही उसी तरह सदमे में होंगे जैसे सी.पी.एम. आज सदमे में है, इस तथ्य के बावजूद कि उसके पास अपनी कारगुजारियों का बचाव करने के लिए अपने लड़ाकू कार्यकर्ता हैं।

विआक्षे का अभिप्राय क्या है? विआक्षे का इतिहास तब शुरू हुआ जब सन् 1929 में स्पेन ने अपने निर्यात को बढ़ावा देने के लिए इस संकल्पना को अपनाया, और जिसके कारण स्पेन सन् 1930 की मंदी के प्रभाव से बच निकलने में सफल हुआ। संक्षेप में, विआक्षे एक राजनीतिक-आर्थिक द्वीपसमूह है, जो देश के अंदर तो होता है, किंतु मुख्य भूमि से दूर होता है। अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एम.) और वर्ल्ड बैंक ने सन् 1960 के दशक में एक विश्वव्यापी योजना के रूप में इस संकल्पना की सराहना की। अनेक औद्योगीकृत देशों ने अपने विश्व व्यापार को बढ़ाने के उद्देश्य से विआक्षे का सहारा लिया।

हाल के समय में चीन, हाँगकाँग, थाईलैंड और ताईवान ने इस योजना को लोकप्रिय बनाया है। चीन ने 'विआक्षे योजना' को उसी दिन अपना लिया, जिस दिन उसने आई.एम.एफ., वर्ल्ड बैंक और अमेरिका के साथ जुड़ने का फैसला कर लिया था। चीन ने उद्यमी वर्ग और उसकी संस्कृति को योजनाबद्ध तरीके से समाप्त कर दिया था। अत: उसे विआक्षे के मुख्य भूमि से विलग द्वीपसमूहवाले सूत्र को अपनाकर अपने व्यापार और व्यापार संस्कृति को बहाल करने के लिए बाध्य होना पड़ा। चूँकि निर्वासित चीनियों के लिए उनके अतीत और उनकी वर्तमान धन संबंधी स्थिति के बारे में कोई सवाल किए बिना चीन में प्रवेश करने का एकमात्र उपाय यह विआक्षे ही रह गया था। अत: चीन में उनकी सफलता का यह भी विशेष कारण बन गया।

आइए देखें, भारत में विआक्षे की क्या तस्वीर उभर रही है। प्रारंभ में जिन्हें 'निर्यात संसाधन' क्षेत्र कहा गया था और निर्यात को बढ़ावा देने के लिए कर छूट दी गई थी, उन्हीं का विस्तार करके अब विशेष आर्थिक क्षेत्र (विआक्षे) बना दिया गया है। चीन के इस उदाहरण से प्रभावित होकर कि चीन ने एफ.डी.आई. (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश) के रूप में सालाना 45 बिलियन डॉलर की राशि बटोरने में सफलता पाई है और इस बात से दु:खी होकर कि हम उसका दसवाँ हिस्सा भी हासिल नहीं कर सके हैं, तत्कालीन वाणिज्य मंत्री मुरासोली मारान ने भारत के लिए भी इस योजना की सिफारिश की। इस तरह विआक्षे योजना की नींव राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (ए.डी.ए.) शासन के दौरान रखी गई, ताकि भारत में विदेशी निवेश लाया जा सके और निर्यात को प्रोत्साहित किया जा सके।

एन.डी.ए. ने विआक्षे को उदारीकृत औद्योगिक कानूनों के साथ एक 'प्रशुल्क मुक्त क्षेत्र' बनाने की कोशिश की। लेकिन यह योजना साकार नहीं हो सकी; क्योंकि सिर्फ एक सरकारी आदेश निकाल देने से तो उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता। लेकिन जब 'आम आदमी' की चिंता करनेवाला संयुक्त प्रगतिवादी गठबंधन (यू.पी.ए.) सत्ता में आया, उसके बाद सरकार ने विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना करने के लिए सन् 2005 में एक कानून पास किया। जिसके अंतर्गत यह व्यवस्था थी कि इन क्षेत्रों को सिर्फ एक कर-शरणस्थली के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय कानूनों से लगभग मुक्त एक क्षेत्र के रूप में विकसित किया जाना चाहिए।

यू.पी.ए. सरकार द्वारा 31 अगस्त, 2004 को घोषित की गई विदेश व्यापार नीति में कहा गया कि 'विआक्षे को

एक विदेशी क्षेत्र समझा जाएगा।' इस घोषणा ने विआक्षे को भूसंपत्ति से कहीं बड़ा दर्जा दे दिया। विआक्षे को भारत में होने के सभी लाभ प्राप्त थे, लेकिन कोई भी घाटा उनके हिस्से में नहीं था, जिसके फलस्वरूप उनकी भूसंपत्ति के मूल्य सैकड़ों गुणा बढ़ गए।

कानून के अंतर्गत यह मूल्य न तो सरकार के खाते में गया और न ही इसका लाभ उन किसानों को मिला, जिनसे जमीन ली गई थी, बल्कि वह तो इन विशेष आर्थिक क्षेत्रों का विकास करनेवाले की झोली में गया। नंदीग्राम ने कानूनी मंजूरी से किए गए इस सारे छल-कपट पर सवाल उठाया है।

(28 मार्च, 2007)

□

नॉन परफॉर्मिंग एसेट्स (एन.पी.ए.)

का जानलेवा नियम

'एन.पी.ए.'। ये तीन अक्षर आज बैंकिंग और व्यापार के क्षेत्र में आतंक बने हुए हैं। एन.पी.ए. 'नॉन परफॉर्मिंग एसेट्स' का संक्षिप्त रूप है। डरावना एन.पी.ए. नियम सिर्फ यह कहता है: जब बैंक को देय ब्याज या अन्य देय राशि 180 से अधिक दिनों तक चुकाए नहीं जाते, तो संपूर्ण बैंक ऋण स्वत: 'नॉन परफॉर्मिंग एसेट्स आस्ति (एन.पी.ए.)' में बदल जाता है। इस अंकगणित के अनुसार किसी भी ऋण को अर्जक या अनर्जक आस्ति के रूप में स्वत: वर्गीकृत किया जा सकता है। ऋणों की वसूली करना बैंकों एवं वित्तीय संस्थाओं के लिए सदा ही एक समस्या रहा है। इसके पहले वे अपने ऋणों का वर्गीकरण उत्तम, संदिग्ध या वसूल न होने लायक के रूप में किया करते थे—किसी भी ऋण के भिन्न-भिन्न गुणों पर विचार करने के बाद, जैसे कि उधार किसने लिया, उनका रिकॉर्ड कैसा है, क्या वह चक्रीय उद्योग था। फिर किसी ऋण को संदिग्ध या वसूल न होने लायक निर्धारित करने की परिपाटी से हटकर ऋणों का अनर्जक आस्तियों के रूप में स्वत: वर्गीकरण किसलिए?

विस्तार में जाने से पहले हमें देख लेना चाहिए कि भारत में अनर्जक आस्तियों (एन.पी.ए.) का विश्लेषण किस तरह किया जाता है। पहली विचार-वस्तु यह है कि जब भारतीय अर्थव्यवस्था कार्य न कर रही हो, उस स्थिति में क्या बैंकों में अनर्जक खातों को टाला जा सकता है? नहीं, अनर्जक खातों से बचा नहीं जा सकता। एक और बात। अनेक पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि घृणित वाशिंगटन सर्वसम्मति, जिसे वैश्वीकृत एन.पी.ए. मानदंडों की योजना की जननी माना जाता है, विफल हो गई है। अब उनका कहना है कि घरेलू अथवा देशी वित्त एक प्रतिरोधी चक्रीय दृष्टिकोण पर आधारित होना चाहिए, अर्थात् यदि अर्थव्यवस्था अल्प-क्रियाशील हो तो अर्थव्यवस्था को उठाने के लिए उदार वित्तपोषण होना चाहिए। आज की एन.पी.ए. नीति स्पष्टत: इसके विपरीत है।

दूसरी बात यह है कि भारतीय वित्त व्यवस्था में अनर्जक अस्तियों की कुल राशि कितनी है। यह अनुमानित राशि 120000 करोड़ रुपए है। इस राशि का विश्लेषण करें। सिर्फ तीन प्रकार के ऋण इससे आधी राशि के लिए जिम्मेवार हैं। पेट्रोलियम क्षेत्र को ऋण (29000 करोड़ रुपए), इस्पात क्षेत्र (22000 करोड़ रुपए) और बदनाम एनरॉन विद्युत् परियोजना (9000 करोड़ रुपए)। क्या बैंक इस्पात और पेट्रोलियम उद्योगों को भाड़ में जाने के लिए कह सकते हैं? यदि हमारी अर्थव्यवस्था को बने रहना है तो ऐसा नहीं कह सकते। इनका पुनर्गठन किया जाना चाहिए। पुनर्गठित होते ही ये एन.पी.ए. के रेडार से गायब हो जाएँगे। तथापि एनरॉन को दिया गया धन हमेशा के लिए डूब गया है। अंतत: अपने सभी पापों पर मिट्टी डालने के लिए सरकार को यह राशि परिदान या आर्थिक सहायता के रूप में देनी होगी। इन ऋणों को घटाकर, परिणामी शेष 60000 करोड़ रुपए (12 बिलियन डॉलर से अधिक) बैंकों और वित्तीय संस्थाओं के कुल वाणिज्यिक ऋण के 10 प्रतिशत के अंदर आ जाता है।

यह हमारे सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) के 4 प्रतिशत से भी कम है। इसके विपरीत, जापान और चीन तथा अन्य एशियाई देशों पर नजर डालें। जापान में कुल अनर्जक आस्तियाँ अर्थात् एन.पी.ए. 1.26 ट्रिलियन डॉलर के करीब हैं, जो जापान के कुल घरेलू उत्पाद के 26 प्रतिशत के बराबर है। चीन में यह 600 बिलियन डॉलर, अर्थात् उसकी जी.डी.पी. का 45 प्रतिशत है, मलेशिया में उसकी जी.डी.पी. का 48 प्रतिशत, थाईलैंड में उसकी जी.डी.पी. का 41 प्रतिशत और ताइवान में उसके सकल घरेलू उत्पाद का 27 प्रतिशत है। अब इसकी तुलना भारत के सकल

घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) के 4 प्रतिशत के बराबर एन.पी.ए. के साथ करें।

क्या कोई तुलना है? फिर भी, सब दबावों के बावजूद जापान ने पश्चिम द्वारा सार्वजनिक किए गए एन.पी.ए. संबंधी मानदंडों को स्वीकार करने से हठपूर्वक मना कर दिया है। लेकिन हैरानी की बात है कि हमने इसे मान लिया है। सार्वत्रिक किया गया एन.पी.ए. नियम विश्वव्यापी बैंकिंग और वित्त को अपने नियंत्रण में रखने की पश्चिम की एक चाल है। यह युक्ति इक्विटी-संचालित अर्थव्यवस्थाओं, अर्थात् पश्चिमी अर्थव्यवस्थाओं के एकदम अनुकूल है। अमेरिका में, जहाँ 55 प्रतिशत घर-परिवार शेयर-बाजार से जुड़े हुए हैं, अधिकांश व्यावसायिक वित्त इक्विटी के रूप में है और उसमें ऋण की भूमिका बहुत ही सीमित है। इसके विपरीत भारत में 2 प्रतिशत से भी कम पारिवारिक बचत शेयरों में लगी हुई है।

नतीजा—भारत की अर्थव्यवस्था ऋण-संचालित है, उसका 2/3 से अधिक व्यावसायिक धन ऋण के जरिए आता है। अमेरिका में स्थिति बिलकुल इसके विपरीत है, वहाँ की अर्थव्यवस्था शेयर-पूँजी पर ज्यादा और ऋण पर कम आधारित है। जहाँ ऋण इतना कम हो, ब्याज या मूलधन 180 दिन से अधिक अतिदेय यानी ओवरड्यू रहता हो, वहाँ ऋण को स्वत: अनर्जक माना जा सकता है। इसके विपरीत भारत में जहाँ व्यवसाय में ऋण इक्विटी का दो गुना है, वहाँ यदि बड़े ऋण की 180 दिनों तक अदायगी न की जाए तो आगे मूल्यांकन किए बिना उसे स्वत: अनर्जक करार नहीं दिया जा सकता। फिर भी यदि कोई उधारकर्ता 180 से अधिक दिनों तक ब्याज चुकाने में असमर्थ रहता है तो उसका खाता अनर्जक समझा जा सकता है और नए नियम के अनुसार उसे अतिरिक्त ऋण नहीं दिया जाएगा, जबकि तब ही उसे सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है।

राष्ट्र की वित्तीय बचत का 60 प्रतिशत से अधिक बैंकों के पास रहता है और शेष को सरकार सँभालती है, ऐसी स्थिति में जरूरतमंद व्यापारी धन के लिए और किसके पास जाएँगे? इस तरह धनाभाव के कारण कमजोर व्यवसाय रुग्ण हो जाते हैं। यद्यपि बैंकर को समस्या के बारे में पता होता है, फिर भी वह इस नियम की खातिर कोई मदद नहीं कर सकता। यदि कोई बैंकर अपने ग्राहक की समस्या हल करने की कोशिश करे, तो निश्चय ही वह सी.बी.आई. की हिरासत में होगा।

क्या कोई बैंकर व्यवसायों को बचाने के उद्देश्य से नियम के विरुद्ध जाकर अपनी नौकरी और स्वयं को संकट में डालने का साहस करेगा? कभी नहीं। फिर वह क्या करता है? वह ऋण देता ही नहीं। यही कारण है कि आज बैंकों के पास धन का अंबार लगा है और व्यवसायी धन के लिए तड़प रहे हैं। प्रसंगवश बैंक के कारोबार के ऊपर सी.बी.आई. का प्राधिकार और वैश्वीकरण दोनों साथ-साथ कैसे रह सकते हैं? क्या वैश्वीकरण के किसी पैरोकार ने इसके बारे में कभी सोचा है? केवल बैंकों पर ही नहीं, भारतीय रिजर्व बैंक ने एन.पी.ए. नियम गैर-बैंकिंग वित्त संस्थाओं पर भी लागू कर दिया है।

गैर-बैंकिंग वित्त कंपनियों से उनके अनुभव के बारे में पूछें। आपको एक के बाद एक किस्से सुनने को मिलेंगे कि किसी तरह उक्त नियम और उनके कारोबार का आपस में कोई संबंध नहीं है। वे बताएँगे कि किस तरह उनके ग्राहक, जैसे कि मालाबार के लॉरी चलानेवाले, उनको कहकर जाते हैं, ''सर, अगला एक साल पूरा होने तक हम कोई किस्त अदा नहीं करेंगे, साल के अंत में हम सारा चुकता कर देंगे,'' और वे तत्परता से ऐसा करेंगे भी। हालाँकि वित्तीय कंपनियों को साल के अंत में लॉरी चलानेवालों से वायदे के अनुसार भुगतान प्राप्त हो जाएगा, फिर भी उन्हें ऐसे खातों को बीच में अनर्जक अथवा एन.पी.ए. घोषित करना पड़ेगा, यह जानते हुए भी कि वित्त कंपनियों के लिए इसके परिणाम बहुत बुरे हो सकते हैं।

निर्विवाद रूप से एन.पी.ए. नियम बैंकों तथा व्यवसाय के अनुकूल नहीं, बल्कि हानिकारक है, दोनों को नष्ट करनेवाला है। साथ में हमारी अपनी अर्थव्यवस्था भी उसकी मार झेल रही है, क्यों? कभी बैंक प्रमुखों से अकेले में बात करें और देखें कि वे किस तरह एन.पी.ए. के सार्वत्रिक मानदंडों को सभी के लिए उचित मानकर लागू करने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक की आलोचना करते हैं। वे धीरे से कहते हैं, 'यह बैंकों और व्यवसायों को नष्ट कर देगा।' वित्त कंपनी चलानेवाले भी यही कहते हैं, जो बैंकरों से अधिक कुशल हैं। हाँ, यह सच है कि वे सब केवल खुसुर-फुसुर करते हैं, खुलकर बात नहीं करते। फिर भी सभी लोग, प्रचार माध्यम सहित, इस आत्मघाती नियम की कसम खाते हैं, जैसे कि यह कोई निर्दोष कानून हो! ऐसे नियम क्यों बनाए जाते हैं जो भारत से संबंध नहीं रखते? सीधी सी बात है, जो उन नियमों को बनाते हैं, वे भारत से असंबद्ध हैं।

(5 नवंबर, 2002)

□

कालूराम को मिलना चाहिए 'भारत रत्न'

कालूराम मीणा एक ग्रामवासी है। वह अनुसूचित जाति से है। वह सरपंच है, अपने गाँव की पंचायत की परिषद् का एक सदस्य है। नाइला गाँव रेगिस्तानी राज्य राजस्थान में है। यह वही गाँव है जहाँ अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति क्लिंटन मार्च, 2000 में आए थे, क्योंकि वह भारत को गहराई से समझना चाहते थे। इस भोले-भाले देहाती ने अमेरिकी राष्ट्रपति को एक सवाल से चौंका दिया। उसने सीधे-सीधे पूछा, ''राष्ट्रपति साहिब, अधिकतर अमेरिकी समझते हैं कि हमारा देश पिछड़ा हुआ है, गरीबी से ग्रस्त है, जहाँ लोग भूख से मर जाते हैं और जो सपेरों से भरा हुआ है। क्या आप भी ऐसा ही मानते हैं?''

सबसे शक्तिशाली और समृद्ध देश का प्रमुख दंग रह गया। उन्हें ऐसे सवाल की कभी आशा नहीं थी, विशेषकर नाइला गाँव में। और कालूराम जैसे आदमी से तो बिलकुल भी नहीं। भारतीयों और अमेरिकियों द्वारा कालूराम के देश के बारे में क्लिंटन को जो कुछ बताया गया था, उसको ध्यान में रखते हुए वह यही आशा कर सकते थे कि दुनिया के सबसे धनी 'राजा' से—नाइला गाँव के लोग बिल क्लिंटन को इसी नाम से पुकारते हैं—कालूराम थोड़ी-बहुत मदद माँगेगा, अपने लिए और अपने गाँव के लिए।

लेकिन कालूराम को कोई सिफारिश या मदद नहीं चाहिए थी। उसका अत्यंत गंभीर सवाल बिल क्लिंटन की भारत के बारे में सूझ-बूझ से बहुत आगे निकल गया था। उसने भारत के बारे में हमारे देश के कुछ अच्छे विचारकों और मंत्रियों तथा प्रधानमंत्रियों—चाहे वह तब के नेहरू हों या आज के मनमोहन सिंह—पदाधिकारियों और स्तंभलेखकों, गैर-सरकारी संगठनों तथा बुद्धिजीवियों द्वारा अमेरिकियों, पश्चिमी देशों और भारत के लोगों के सामने भी प्रस्तुत की गई तस्वीर को चुनौती दे डाली।

इस आघात से उबरने पर क्लिंटन ने जवाब दिया, ''नहीं। भारत कोई गरीब देश नहीं है। मेरा यहाँ आना मेरे साथी अमेरिकियों के मन से इस गलत धारणा को ठीक करने में सहायक होगा कि भारत गरीब देश है।'' बिल क्लिंटन समझ गए कि कालू राम के प्रश्न में यह उत्तर भी शामिल था कि यह देश एक गरीब देश नहीं है, हालाँकि सारी दुनिया के सामने अब तक इसकी गरीबी का ही ढिंढोरा पीटा गया है। यदि बिल क्लिंटन स्तब्ध न रह जाते तो वह बात भी चौंकानेवाली होती। एक सदी से भी अधिक समय से सारी दुनिया और पश्चिम के सामने भारत की यही तस्वीर पेश की गई है कि भारत का मतलब है—भूख और गरीबी, अंधविश्वास और निरक्षरता, सपेरागिरी और बहुओं को जलाना, विवाहित बच्चे और विधवाओं की वेश्यावृत्ति। स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से भारत की ऐसी छवि विदेशियों द्वारा नहीं, बल्कि स्वयं भारतीयों द्वारा पेश की गई।

कैथेरिन मायो जैसे नए घुमक्कड़ भारत के गंदे नालों में सूँघते फिर रहे हैं, ताकि वे पश्चिमी देशों और भारत को यह बताने-दिखाने के लिए फिल्में बना सकें और किताबें लिख सकें कि भारत का दूसरा नाम है गंदगी। इसकी तुलना बिल क्लिंटन के अपने देश से करें। अमेरिका में गर्भवती लड़कियों में से एक-तिहाई छोटी स्कूली बच्चियाँ हैं। लेकिन कोई भी अमेरिकन यह नहीं कहेगा कि अमेरिका अविवाहित नाबालिग माताओं का देश है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले, ईसाई धर्म-प्रचारकों ने उपनिवेशीय अवधि के दौरान अपने धर्म-परिवर्तन के काम के लिए धन जुटाने के उद्देश्य से भारत की गरीबी का विदेशों में प्रचार करना शुरू किया था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, उनके काम की सफलता से प्रेरित होकर अनेक ऐच्छिक संगठनों ने उनकी नकल करना शुरू कर दिया, ताकि वे भी अपने काम के लिए सहायता प्राप्त कर सकें। यह प्रवृत्ति इन संगठनों पर भूत की तरह हावी हो गई और भारत की गरीबी और

भुखमरी का प्रचार करके उनका धंधा खूब चल निकला। भारत सरकार भी पीछे नहीं रही। उसने भी कुछ मिलियन की सहायता के लिए भारत की छवि की एक दरिद्र और भूख से पीड़ित देश के रूप में पुष्टि कर दी। इसके परिणामस्वरूप गरीबी और भूख भारत की समस्याएँ नहीं रहीं, बल्कि वे इस देश की छवि, इसकी पहचान बन गईं। इसी छवि को चुनौती देने का साहस कालूराम ने किया। लेकिन कुछ ही लोग जानते हैं कि भारत के समस्त जनमत-निर्माता बुद्धिजीवियों को ललकारने में कालू राम एकदम सही है। भारत कभी दरिद्र नहीं था, न अब है। भारत यदि गरीब है तो इस मायने में कि नेतृत्व की कमी है। सिर्फ राजनीतिक नेतृत्व नहीं, इसका बुद्धिजीवी नेतृत्व भी उतना ही कमजोर है। यह अपने संसाधनों, मानव और भौतिक, दोनों में कमजोर नहीं है, बल्कि उनका संवर्धन करने में अक्षम है। केवल एक परिसंपत्ति लें, जिसमें भारत की जनता, आमतौर पर भारत की महिलाओं ने विश्वास व्यक्त किया है—सोना। हर अर्थशास्त्री सलाह देगा कि यह एक व्यर्थ एवं निष्क्रिय परिसंपत्ति है और यह कि किसी को भी इसमें निवेश नहीं करना चाहिए। लेकिन भारतीय लोगों ने यह सलाह नहीं मानी और सोना खरीदा।

सरकार ने सोने को अवैध परिसंपत्ति घोषित कर दिया और समस्त स्वर्ण व्यापार तस्करों को सौंप दिया, जिन्होंने सोने की आपूर्ति पर एकाधिकार कर लिया। फिर भी भारतीयों ने सोना खरीदना जारी रखा। यहाँ तक कि भगवान् बालाजी को भी अपने भक्तों के लिए सोने के सिक्के ढालने के लिए तस्करी का सोना खरीदना पड़ा। हमारे देश में बहुतों को नहीं पता कि भारतीयों ने लगभग 3 लाख टन सोना जमा कर लिया है। इस सोने का मूल्य लगभग 3000 बिलियन अमेरिकी डॉलर है। लेकिन जब तक इसे अमेरिका की धन-संपत्ति से न जोड़ा जाए, तब तक इसका कोई अर्थ नहीं होगा। अकेले भारत में स्वर्ण भंडार का मूल्य संघटित अमेरिका के बाजार पूँजीकरण के एक-तिहाई के बराबर है। इसके अलावा यह अमेरिका के सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) के आधे के बराबर है। आभूषणों में न ढाला गया सोना करीब 20000 टन है, जिसका मूल्य 200 बिलियन डॉलर, या 9.5 लाख करोड़ रुपए है। सारा सोना अवैध रूप में है, क्योंकि 50 वर्षों तक सिर्फ तस्करों ने ही लोगों को सोने की सप्लाई की। जब तक वर्ज्य या अवैध सोने को संचलन में नहीं लाया जाता, तब तक यह महत्त्वपूर्ण, मूल्यवान् परिसंपत्ति हमारा भार ही बनी रहेगी। मान लो कि सरकार बैंकों में जमा संपूर्ण सोने को पूरी तरह कर-मुक्त कर देती है। अनुमान है कि तब हमारा स्वर्ण भंडार 5000 से 10000 टन और बढ़ जाएगा, जो 50 से 100 बिलियन अमेरिकी डॉलर के बराबर है। इससे हमारे विदेशी मुद्रा कार्यक्षेत्र में स्थिरता आएगी तथा भारत विश्व स्वर्ण बाजार और मूल्यों को नियंत्रित कर सकेगा, ब्याज-दरें कम हो सकेंगी और वह विशाल परिसंपत्ति संचलन में लाई जा सकेगी, जो आज भी एक चोर की तरह, चोरी-छिपे इधर-उधर घूमती रहती है। यह सारा वर्णन इस बात का प्रमाण है कि हमने किस तरह अपनी सबसे मूल्यवान् परिसंपत्ति को एक भार में बदल दिया है।

कालूराम इस बारे में कुछ नहीं जानता। लेकिन उसे विश्वास है कि हमारा देश कोई गरीब या दरिद्र देश नहीं है। क्या उसकी चुनौती, उसका यह विश्वास भारतीय लोगों की आँखें उसी तरह खोल सकेगा जिस तरह उसने बिल क्लिंटन की आँखों से परदा हटाया और उनसे वचन लिया कि वह भारत के बारे में अपने अमेरिकी साथियों की सोच सुधारेंगे? उन्हें बताएँगे कि भारतीय लोग इस योग्य हैं कि उनके साथ व्यापार और कारोबार किया जाए, और यह भी कि भारत अमेरिका की दानशीलता का मोहताज नहीं है।

कालूराम ने सच में बिल क्लिंटन को बता दिया कि अमेरिकावासी भारत में निवेश कर सकते हैं, जबकि भारत को एक निर्धन देश बतानेवालों ने स्वयं यह मान लिया था कि भारत को अमेरिकियों से सहायता की जरूरत है। अचरज की बात तो यह है कि कुछेक समाचार-पत्रों ने ही इस रिपोर्ट को प्रकाशित किया। खेद की बात है कि जिन

समाचार-पत्रों ने भारतीय विधवाओं को वेश्याओं के रूप में पेश करने के दीपा मेहता और शबाना आजमी के संवैधानिक अधिकार का समर्थन करने के लिए सैकड़ों टन अखबारी कागज बेकार कर दिया, उन्होंने कालूराम-क्लिंटन का संवाद तक नहीं छापा। कालूराम वास्तव में 'भारत रत्न पुरस्कार' पाने का हकदार है, क्योंकि उसने विश्व के सबसे प्रभावशाली व्यक्ति को सच बताया, ऐसा सच जिस पर अधिकतर भारतीयों ने ध्यान ही नहीं दिया था। क्या वह 'भारत रत्न' का हकदार नहीं है?

(25 मार्च, 2000)

□

राज्य-संरक्षण और राज्य-

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने राष्ट्रीय विकास परिषद् की 59वीं बैठक में घोषणा की कि 'अल्पसंख्यकों, विशेषकर मुसलमानों का राष्ट्रीय संसाधनों पर 'पहला अधिकार' होगा।' मुसलिम-वोटधनी राज्य उत्तर प्रदेश में शीघ्र ही चुनाव होनेवाले थे, अत: सामूहिक मुसलिम वोटों के लिए अभियान ने कृमि पिटारा खोल दिया। 'पहला हक या पहला अधिकार' के सिद्धांत की घोषणा करके सत्तारूढ़ राजनीतिक वर्ग वास्तव में मुसलिम समुदाय के प्रबंधन—यहाँ तक कि उसी मिल्कियत को ग्रहण करने का प्रयास कर रहा है। राज्य-संरक्षण के तहत इस समुदाय का नियंत्रण प्राप्त करने की योजना बहुत स्पष्ट है।

पहले तो पूरी-की-पूरी मुसलिम जाति का आत्मविश्वास उसे 'दरिद्र' और 'अनपढ़' बताकर झकझोर दिया जाता है, यह कहने के बजाय कि मुसलिम समुदाय में गरीबी और निरक्षरता की समस्या है। सच्चर आयोग सरीखी रिपोर्टें संकलित करके उन्हें यह समझाने की कोशिश की जाती है कि राज्य-संरक्षण के बिना, राजनीतिक वर्ग की उदारता के बिना वह समुदाय तबाह हो जाएगा। लेकिन मुसलिम वोटों का पीछा करनेवाले राजनीतिक वर्ग या उनका शिकार बननेवाले मुसलमान यह कतई नहीं समझते कि किसी समुदाय को अक्षम बनाने और उसकी पहल करने की क्षमता उससे छीन लेने का सबसे बढ़िया तरीका यही है कि उसके आत्मविश्वास को तोड़ दिया जाए और उसे राज्य-संरक्षण देने की पेशकश की जाए। अच्छे-से-अच्छे सुप्रबंधित व्यावसायिक उद्यम भी सरकारी हस्तक्षेप के कारण रुग्ण हो जाते हैं। तब राज्य किसी समुदाय का विकास करने की जिम्मेवारी कैसे उठा सकता है, जो किसी व्यापारिक कंपनी को सँभालने से भी कहीं अधिक जटिल कार्य है?

अब उन समुदायों पर नजर डालें—जो कभी भारत के बड़े हिस्सों के शासक थे और जिन्हें मुसलमानों से कहीं अधिक मुश्किलों का सामना करना पड़ा—जिस तरह उन्होंने अपना विकास किया है और वह भी राज्य से कोई विशेष संरक्षण पाए बिना। क्या आपने आगरा और कानपुर के जाटवों के बारे में सुना है? पश्चिमी तमिलनाडु की गौंडर और नायडु जातियों के बारे में? दक्षिणी तमिलनाडु के नाडार समुदाय के बारे में? केरल के इझवाओं या गुजरात के कच्छी और पटेलों के बारे में? या पंजाब के रामगढ़ियाओं के बारे में? इन सबके बीच सामान्य क्या है? ये सभी जातियाँ या समुदाय कई माने में सामाजिक एवं आर्थिक रूप से वंचित थे।

जाटव उत्तर प्रदेश में अछूत चमारों का एक अलग वर्ग है। तमिलनाडु के गौंडर, नायडु और नादर समुदाय अन्य पिछड़े वर्गों में आते हैं। केरल के इझवाओं को भी अछूतों जैसा दर्जा दिया जाता है। कच्छी और पटेल भी ओ.बी.सी. श्रेणी से संबंध रखते हैं। पंजाब के कारीगर रामगढ़िया भी अन्य पिछड़े वर्ग में आते हैं। लेकिन ये पिछड़ी या अनुसूचित जातियाँ किस तरह भिन्न हैं, देखिए—उत्तर प्रदेश में आगरा और कानपुर के जाटवों की बात करें। उनका परंपरागत व्यवसाय चमड़ा कमाना और जूते बनाना था। जातिगत अनुशासन ने जाटवों को केवल जूता बनाने के धंधे से बाँध दिया। लेकिन उन्हें अप्रत्यक्ष वरदान यह मिला हुआ था कि जूते बनाने की दक्षता केवल उनके पास थी। जाटवों ने अपनी प्रतिकूल परिस्थिति को व्यावसायिक एकाधिकार में बदल डाला। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद नहीं, बल्कि उससे भी बहुत पहले, अठारहवीं सदी में जाटवों ने जूता बनाने के कारखाने स्थापित कर लिये और फिर वे अपनी जाति के अंदर धनाढ्य वर्ग में शामिल हो गए। इस प्रकार जाटवों ने विकास की ओर खुद कदम बढ़ाया और सरकारी संरक्षण के गुलाम नहीं बने। आज आगरा और कानपुर के जाटवों के अपने शिक्षण संस्थान चल रहे हैं, जहाँ उनके बच्चे अच्छी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, ताकि वे 'मनुवादियों' से बराबरी कर सकें। वे मायावती के

नेतृत्ववाली बहुजन समाज पार्टी की पक्की बुनियाद हैं।

अब गुजरात के पटेल समुदाय को लें। वे गुजरात के व्यापार और उद्योग के मुख्य संचालक हैं। इसके साथ ही विश्व स्तर पर भी उनकी विशिष्ट पहचान है। अमेरिका में 80 प्रतिशत—से अधिक सड़क किनारे स्थित मोटल्स उनके हैं। और इतना ही नहीं, वे अमेरिका में अमेरिकी कंपनियों की बड़ी होटल शृंखला का प्रबंध अपने नियंत्रण में लेने के लिए बोली लगा रहे हैं। विश्व स्तर पर हीरा उद्योग का अधिकांश भाग उनके नियंत्रण में है। गुजरात के कच्छी, जिनमें बहुत से मुसलमान हैं—मुंबई में खुदरा व्यापार और इंग्लैंड में विशाल खुदरा विक्रय केंद्रों के मालिक बने बैठे हैं। दक्षिणी तमिलनाडु के नाडार जहाँ एक शताब्दी पहले सबसे पिछड़े हुए वर्गों में शामिल थे, लेकिन आज उन्होंने तमिलनाडु और पूरे देश में आतिशबाजी व्यवसाय का 66 प्रतिशत, अर्थात् दो-तिहाई से अधिक खुदरा एवं थोक व्यापार अपने नियंत्रण में किया हुआ है। जैसा कि एक बार पंडित नेहरू ने कहा था, 'उन्होंने शिवकाशी को 'छोटा जापान' बना दिया है।' उन्होंने स्वयं को तथा अन्य जातियों को शिक्षित करने के प्रयास सन् 1885 में ही आरंभ कर दिए थे।

नाडार समुदाय के लोगों की गिनती तमिलनाडु में आज सबसे धनी जातियों में की जाती है। पश्चिमी तमिलनाडु के गौंडर और नायडु समुदायों की भी यही स्थिति है। आपस में उन्होंने कपड़ों की कताई-बुनाई का सारा कारोबार और 10,000 करोड़ रुपए से अधिक का निर्यात अपने कब्जे में किया हुआ है। पूरे भारत और अफ्रीका में भी उनका लॉरी परिवहन, इंजीनियरिंग संबंधी वस्तुओं के निर्माण और गहरे कुएँ खोदनेवाले उपकरण बनाने के व्यवसाय का जाल बिछा हुआ है। पंजाब के रामगढ़िया, जो कभी दस्तकार और बढ़ई होते थे, वे आज इंजीनियरिंग उद्योग में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं। केरल के इझवाओं ने, जो कि सामाजिक सोपान में सबसे नीचे माने-जानेवालों में से थे, आज केरल के आर्थिक व सामाजिक रूप से सबसे मजबूत समुदाय के रूप में अपनी स्थिति बना ली है, अपनी धाक जमाई हुई है, जबकि एक समय वे कारीगर और बढ़ई हुआ करते थे। केरल के इझवा लोगों को कभी समाज के सबसे निचले स्तर पर देखा जाता था, पर आज उन्होंने केरल में सामाजिक और आर्थिक रूप से अत्यंत प्रभावशाली समुदाय का दर्जा हासिल कर लिया है।

इन समुदायों के बारे में किए गए अध्ययन से पता चलता है कि वे इसीलिए आगे बढ़ सके, क्योंकि उन्होंने कोई विशेष राज्य-संरक्षण नहीं माँगा और न ही सरकार को उन्हें विशेष रूप से संरक्षण देने दिया। उन्होंने सामुदायिक जुड़ाव को सामाजिक पूँजी बनाकर अपनी सहायता की, बजाय इसके कि वोट बैंक बनकर वे किसी राजनीतिक वर्ग के पिट्ठू बने रहें। जबकि उनसे कम पिछड़े हुए कई अन्य समुदायों ने मतपत्र बन जाना पसंद किया और सरकार से मदद माँगी तथा अननुपातिक सरकारी संरक्षण प्राप्त किया। आज वे राज्याश्रित हैं और इन आत्मनिर्भर समुदायों से बहुत, बहुत पीछे हैं। यह कोई चुटकुला नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एन.एस.एस.ओ.) का सर्वेक्षण कहता है कि 28.8 मिलियन कृष्येतर उद्यमों में से 37 प्रतिशत उद्यमों के मालिक ओ.बी.सी. (अन्य पिछड़े वर्ग) हैं, 4 प्रतिशत के मालिक अनुसूचित आदिम जाति (एस.टी.) और 9 प्रतिशत उद्यम अनुसूचित जातियों (एस.सी.) के हैं। यह विशेष संरक्षण के बिना विकास की कहानी है।

निष्कर्ष

जिस समुदाय को राज्य द्वारा अति-संरक्षित किया जाता है, वह समुदाय पहल करने की शक्ति खो देता है और राज्याश्रित हो जाता है। यदि भारतीय मुसलमान पूछें कि राजनीतिक वर्ग उन्हें संरक्षण देने के लिए इतने उत्सुक क्यों

हैं, तो उन्हें जवाब मिल जाएगा। राजनीतिक वर्ग को राज्याश्रित मुसलिम समुदाय की जरूरत है।

(16 दिसंबर, 2006)

□

मुद्रा का अधोमूल्यन

और

पेट्रोल की बढ़ती कीमतें

क्या रुपए की मजबूती अर्थव्यवस्था को कमजोर करती है?

'डॉलर के मुकाबले रुपए का असली मूल्य 9 रुपए है, 42 रुपए नहीं।'

क्या सच में?

पिछले सप्ताह प्रकाशित लेख 'पेट्रोल 30 रुपए प्रति लीटर? संभव, लेकिन' में उल्लिखित उस निर्विवादित सच के बारे में बहुत से लोगों ने इसी तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त की।

दूसरी प्रतिक्रियाएँ इस प्रकार थीं—'एक युवा भारतीय होने के नाते मैं हमेशा सोचा करता था कि हमारी मुद्रा आखिरकार डॉलर की तुलना में इतनी नीचे क्यों है, जबकि कई छोटी मुद्राओं का मूल्य अधिक है।'

'अधोमूल्यित रुपए से निर्यातकों को मिला लाभ आयातित तेल की ऊँची कीमत में चला जाता है' और 'कभी नहीं सोचा कि यह कमजोर रुपया है जो विदेशी निवेश को आकर्षित कर रहा है।'

कुछ पाठकों ने पूछा, 'क्या जब रुपया नीचे गिरेगा तब विदेशी निवेश और निर्यात नीचे नहीं चला जाएगा और आयात बढ़ेगा?' हर किसी को यह जानने की जिज्ञासा थी कि सरकार किस कारण से रुपए को अधोमूल्यित रखना चाहती है। क्या मजबूत रुपया अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाता है या कमजोर करता है—इस प्रश्न ने बहुत लोगों को बेचैन किया हुआ था।

इसका उत्तर यह है कि रुपया दोनों काम कर सकता है। एक संदर्भ में रुपए की मजबूती विकास को हानि पहुँचा सकती है। दूसरे संदर्भ में इससे विकास को बढ़ावा मिल सकता है। किसी विशिष्ट संदर्भ में क्या मजबूत रुपया अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा है या बुरा, इस पर गंभीर एवं निरंतर बहस की जरूरत है।

तथ्यों और सतत रुचि के अभाव में अधिकतर आर्थिक मसलों पर पूरी बहस नहीं हो पाती है। पश्चिम द्वारा थोड़ा-थोड़ा करके बाँटे गए विचारों और यहाँ पश्चिम-केंद्रित विचारों के आधार पर उन प्रश्नों के पक्ष या विरोध में हठी रुख अपनाया जाता है। बहुत लोगों को इन तथ्यों की जानकारी है कि रुपए का मूल्य 'बाजार' में अपने मूल्य से पाँच गुणा है और सरकार ही रुपए को अधोमूल्यित रखना चाहती है। मूल अर्थशास्त्र यह सिखाता है कि यदि रुपया चढ़ता है तो निर्यात कम हो जाता है और आयात बढ़ जाता है। उसके अलावा विदेशी निवेश एक महत्त्वपूर्ण विषय बन जाने की स्थिति में, यदि रुपए का मूल्य बढ़ता है तो विदेशी निवेश घट जाता है।

क्यों?

जब रुपया ऊपर चढ़ता है तो निवेश के हर डॉलर के बदले कुछ रुपए कम हो जाते हैं अर्थात् रुपयों में परिवर्तन पर डॉलर का मूल्य घट जाता है। इस प्रकार अधोमूल्यित रुपया निर्यात और निवेश को प्रोत्साहित करता है तथा विदेशी मुद्रा-भंडार में वृद्धि करता है।

सन् 1990 में आए संकट का मनोवैज्ञानिक प्रभाव अभी तक बने रहने से हमारे नीति-निर्माता निर्यात और डॉलर के भंडार को ऐसा विषय मानते हैं जिस पर चर्चा या बहस नहीं की जा सकती। इसी कारण नीतियों का रुख अधोमूल्यित रुपए की ओर रहता है। इसने मानसिकता और मुद्रा संबंधी नीतियों को जड़ बना दिया है।

स्थिति को सामान्य बनाने के लिए जरूरी है कि इस विषय पर जबरन एक बहस छेड़ी जाए कि हमें कितनी और किस तरह की विदेशी मुद्रा रखने की आवश्यकता है और हमारे शेयर बाजारों तथा हमारे विदेशी मुद्रा कोष में अल्पकालीन वैश्विक निधियों की भूमिका को किस तरह सीमित किया जा सकता है। वस्तुत: उस बहस से हमेशा बचने की कोशिश की जाती है, जो यह तय कर सकेगी कि रुपए को आखिर कब तक अधोमूल्यित रखा जाना

चाहिए।

निर्यात या विदेशी निवेश को बढ़ावा देने का उद्देश्य मुद्राओं का अधोमूल्यन करना तगड़े-तंदुरुस्त के विरुद्ध कमजोर का जाना-पहचाना खेल है। अतीत में जापान ने निर्यात वृद्धि के लिए यह कदम उठाया था और आज का चीन भी निर्यात तथा निवेश को प्रोत्साहित करने के लिए यही करता है।

कोई पूछ सकता है, कि जब चीन अपनी मुद्रा युआन का अधोमूल्यन करने की चाल चलता है, तब भारत क्यों नहीं अपने रुपए का अधोमूल्यन करने का दाँव खेलता?

नहीं, भारत वही चाल नहीं चल सकता जो चीन चलता है, भारत एक आपातकालीन उपाय के रूप में ही ऐसा कर सकता है; क्योंकि दोनों के बीच एक मौलिक अंतर है। चीन अपनी कच्चे तेल की जरूरत का एक-तिहाई आयात करता है और भारत अपनी जरूरत के दो-तिहाई से भी ज्यादा का आयात करता है। अत: रुपए का यदि अधोमूल्यन कर दिया जाए तो भारत का जोखिम चीन से दोगुना हो जाएगा, क्योंकि उस दशा में तेल की ऊँची लागत के कारण सामान्य अर्थव्यवस्था अप्रतिस्पर्धात्मक हो जाएगी।

जब कच्चे तेल के भाव 10 डॉलर और 20 डॉलर प्रति बैरल के बीच थे, उस समय रुपए का अधोमूल्यन बहुत महत्त्व नहीं रखता था। लेकिन जब कच्चे तेल की कीमतें 130 डॉलर प्रति बैरल तक पहुँच गई हों, तब अधोमूल्यन की कहानी एक त्रासदी में बदल जाती है। इस त्रासदी को लेकर ही रुपए का मूल्य बहस का विषय बन जाता है।

अब बात करते हैं विदेशी मुद्रा भंडार की। हमने रुपए को सन् 1994 से अधोमूल्यित रखकर लगभग 7,36000 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा इकट्ठी कर ली है। विदेशी मुद्रा का बड़ा भंडार मुद्रा व्यवस्था के उदारीकरण के लिए एक आवश्यक रक्षा कवच है। लेकिन मुद्रा प्रणाली को उदार बनाना विदेशी मुद्राकोष में वृद्धि करने के लिए आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त रुपए को मजबूत करने के लिए भी उच्च विदेशी मुद्रा भंडार जरूरी है।

लेकिन विदेशी मुद्रा भंडार में अपेक्षित वृद्धि रुपए का अधोमूल्यन करके ही संभव होती है, बाद में रुपए का मूल्य बढ़ाया जा सकता है।

इस तरह देखें तो रुपए का अधोमूल्यन विदेशी मुद्रा कोष में वृद्धि करके, बाद में रुपए को मजबूत करने की एक योजना है। लेकिन हमारे विदेशी मुद्रा भंडार का काफी बड़ा हिस्सा दिखावटी है, जिसका आधार शेयर बाजारों में लगाया गया धन है और यह धन बिना सूचना के किसी भी समय उड़कर जा सकता है।

अत: कुल विदेशी मुद्रा भंडार के एक-चौथाई के बराबर इन दिखावटी निधियों को विदेशी मुद्रा भंडार से जितनी जल्दी निकाल दिया जाए, शेयर और विदेशी मुद्रा बाजारों के लिए उतना ही बेहतर होगा।

एक बात और, उच्च विदेशी मुद्रा भंडारों को यद्यपि एक परिसंपत्ति के रूप में देखा जाता है, फिर भी असलियत में वे एक भार हैं। हमारा भंडार वास्तव में अमेरिका की अर्थव्यवस्था को 2 प्रतिशत की सस्ती दर पर उधार दिया गया धन है, जबकि हम अमेरिकी धन को विदेशी निवेश के रूप में ऊँची ब्याज-दर पर अपने यहाँ ला रहे हैं। विदेशी मुद्राकोष को, विशेषकर अल्पकालीन निधियों से भरना, हाथ में कुछ न रह जाने के बराबर है।

अल्पकालीन निधियों की बुनियाद पर खड़ी विदेशी मुद्रा की ऊँची इमारत रुपए को उन अल्पकालीन निधियों के विरुद्ध कैसे बचा सकती है जो विदेशी मुद्रा भंडार से कभी भी निकलकर जा सकती हैं। वे जोखिमपूर्ण निधियाँ किस प्रकार रुपए की रक्षा कर सकती हैं, जो रुपए के लिए स्वयं खतरा बनी हुई हैं?

निस्संदेह यह एक ऐसा मामला है जो मजबूत रुपए के पक्ष में जाता है—वह रुपया जिसका मूल्य आज के मूल्य से कहीं ज्यादा हो। मजबूत रुपया घरेलू अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करता है, लेकिन इससे बाहरी अर्थव्यवस्था कम

मजबूत होती है। लेकिन रुपया रातोरात मजबूत नहीं होगा और ऐसा होना भी नहीं चाहिए।

तथापि जिस तरह सरकार को रुपए को उसके असली मूल्य से 20 प्रतिशत कम करने में 12 वर्ष लगे, उसी तरह रुपए को उसके वास्तविक मूल्य के बराबर लाने में भी सरकार को 12 वर्ष लग सकते हैं। वास्तव में रुपए का मूल्य बढ़ाने की प्रक्रिया अब शुरू हो जानी चाहिए और अधोमूल्यन की आगे किसी भी कोशिश को तुरंत रोक दिया जाना चाहिए।

भारत अब अगले कुछ वर्षों तक रुपए को मजबूत बनाए रखने की चाल चल सकता है। उसके लिए सरकार को सबसे पहले तो मंदा करने के लिए दबाव डालना बंद करना होगा और फिर जब भी निर्यात का धन-प्रेषण या निवेश के जरिए विदेशी मुद्रा की बाढ़ आए, रुपए को चढ़ने देना होगा।

इससे विदेशी मुद्रा भंडार में कुछ सीमा तक कमी हो सकती है। लेकिन वह कोई बुरी बात नहीं होगी, क्योंकि विदेशी मुद्रा से 2 प्रतिशत का नगण्य लाभ प्राप्त होता है। इससे घरेलू अर्थव्यवस्था के हितों का बाहरी अर्थव्यवस्था के साथ संतुलन बन जाएगा।

रुपए की मजबूती का मतलब है एक मजबूत अर्थव्यवस्था, न कि कमजोर अर्थव्यवस्था।

सामान्य आयात को सस्ता होने से बचाने के लिए हम अतिरिक्त आयात शुल्क लागू कर सकते हैं, जिसके लिए विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) समझौते के अंदर व्यवस्था है। क्या राष्ट्र इस विषय पर विचार करेगा?

(20 जून, 2006)

□

पेट्रोल 30 रुपए प्रति लीटर?

पेट्रोल का भाव बढ़ने के सवाल पर मार्क्सवादी और भाजपा, दोनों मतैक्य के कारण एक-दूसरे से शरमाते हैं।

लेकिन दोनों में से कोई भी इतनी सी बात नहीं समझता है कि पेट्रोल मूल्यों के अर्थशास्त्र में गहराई से झाँकने की जरूरत है और यह सिर्फ नारेबाजी एवं आंदोलन करने का विषय नहीं है। कच्चे तेल और पेट्रोल के बीच एक प्रक्रिया का संबंध है। ठीक है, लेकिन कच्चे तेल और पेट्रोल के भाव के बीच एक टूटी कड़ी है।

वह टूटी कड़ी क्या है?

बाहर से कच्चे तेल की आपूर्ति के लिए हम डॉलर में भुगतान करते हैं, लेकिन डॉलर आधारित कच्चे तेल को साफ करके निकाला गया पेट्रोल और डीजल हम रुपयों में बेचते हैं। इस प्रकार डॉलर-आधारित कच्चा तेल और रुपया आधारित पेट्रोल के मूल्यों के बीच एक मध्यस्थ है, और वह है डॉलर एवं रुपए के बीच विनिमय दर।

अत: रुपयों में पेट्रोल के भाव न केवल डॉलरों में कच्चे तेल के भाव पर निर्भर करते हैं, बल्कि रुपयों में डॉलर के मूल्य पर भी निर्भर करते हैं।

कच्चे तेल और पेट्रोल मूल्यों के बीच लुप्त कड़ी किस तरह काम करती है?

कच्चे तेल का सार्वत्रिक मूल्य 130 डॉलर प्रति बैरल है। एक डॉलर का मूल्य 42 रुपए होने के हिसाब से एक बैरल कच्चा तेल 5460 रुपए का बैठता है। कल्पना करें कि एक डॉलर का भाव 42 रुपए नहीं, बल्कि उसका मात्र आधा यानी 21 रुपए है। उस स्थिति में एक बैरल कच्चे तेल का भाव रुपयों में आधा अर्थात् 2730 रुपए हो जाएगा, यद्यपि डॉलर में उसका मूल्य 130 डॉलर ही रहेगा।

इसलिए यदि रुपए का मूल्य बढ़ जाता है, तो डॉलर के बदले हमें कम रुपए चुकाने पड़ेंगे। नतीजा यह होगा कि कच्चे तेल के लिए हमें रुपयों में कम कीमत देनी होगी। फिर अब समस्या क्या है?

आजकल रुपए में डॉलर का मूल्य रुपए को बहुत अधिक अधोमूल्यित करता है, जिसका वास्तविक मूल्य कहीं ज्यादा है। इस कारण से हमें एक डॉलर के बदले अधिक रुपए देने पड़ते हैं। इससे आयातित वस्तुएँ, डॉलर के भाव कच्चे तेल सहित, रुपयों में महँगी हो जाती हैं।

बाजार में रुपया अधोमूल्यित कैसे हुआ? यह सब भारत सरकार के कारण है, जिसने रुपए को अधोमूल्यित रखने के लिए दबाव डाला है। चौंक गए?

यह अब कोई रहस्य नहीं रह गया है कि सुधार-उपरांत की अवधि में, जब भी डॉलर के मुकाबले रुपए में बढ़त हुई, सरकार ने रुपए के विरुद्ध डॉलर के समर्थन में हस्तक्षेप किया और बाजार में रुपए को उसके वास्तविक मूल्य से नीचे रखा।

लेकिन सरकार को यह क्यों करना चाहिए? और रुपए का वास्तविक मूल्य निर्धारित करने तथा यह साबित करने के लिए क्या करना चाहिए कि बाजार में भारतीय मुद्रा अधोमूल्यित है? यह कुछ जटिल विषय है, लेकिन जो इससे परिचित नहीं हैं, उनके लिए इसे सरल किया जा सकता है।

विशेषज्ञ सलाह देंगे कि 'आगे चलकर', अर्थात् एक अवधि के बाद मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय शक्ति के बराबर होगा, भले ही बाजार में उसके मूल्य में अल्पकालिक घट-बढ़ क्यों न हो। उनके अनुसार, दो मुद्राओं के बीच विनिमय मूल्य का वास्तविक निर्धारक दोनों की सापेक्षित क्रय शक्ति है, जिसे 'क्रय शक्ति समानता' कहा जाता है।

सन् 1955 और 1985 के बीच, भारतीय रुपए का मूल्य और डॉलर के साथ उसकी विनिमय दर एक समान

थी। 1982 में क्रय शक्ति समानता के अनुसार रुपए का वास्तविक मूल्य 15 रुपए प्रति डॉलर था और विनिमय दर कम थी यानी 9.3 रुपए प्रति डॉलर।

लेकिन सन् 1985 और 1992 के बीच स्थिति उलट गई, रुपए का वास्तविक मूल्य उसके वास्तविक विनिमय मूल्य की तुलना में कम हो गया। इसके परिणामस्वरूप 1991 में रुपए का 20 प्रतिशत सुधारात्मक मूल्यह्रस किया गया।

तथापि, सन् 1993 से यह नीति अपनाई गई कि व्यापार और वर्तमान लेन-देन के लिए तथा पूँजीगत खाते को छोड़कर अन्य व्यवहारों के लिए रुपए का मूल्य-निर्धारण अधिकांशत: बाजार पर छोड़ दिया जाए। वर्तमान किस्सा यहीं से आरंभ होता है।

विशेषकर सन् 1994 से, जब विदेशी संस्थागत निवेशकों द्वारा निवेश को मंजूरी दी गई, रुपए का मूल्य वास्तव में चढ़ने लगा। लेकिन वित्त मंत्रालय और भारतीय रिजर्व बैंक ने बाजार में रुपए का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से कम रखने के लिए हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया।

सरकार ने यह योजना पूर्व एशियाई अर्थव्यवस्थाओं के निर्यात-संचलित विकास कार्यक्रम से अभिभूत होकर अपनाई थी, जो उस समय का चलन था। कुछ देर के लिए संकट प्रबंध सूत्र के रूप में तो यह ठीक था, लेकिन अधिकांशत: घरेलू गतिविधि पर निर्भर रहनेवाली हमारे जैसी अर्थव्यवस्था के लिए इस योजना को स्थायी आधार पर अपनाना उचित नहीं है। इसके अलावा ईंधन अर्थात् तेल की डॉलर में अभूतपूर्व कीमत अब हमारी घरेलू अर्थव्यवस्था को भी तबाह कर रही है।

यह बात स्वत: स्पष्ट है कि रुपए को बाजार में जान-बूझकर अधोमूल्यित रखा गया है।

पहले विदेशी मुद्रा भंडार में वृद्धि और रुपए के मूल्य में गिरावट को लें। सिद्धांत के अनुसार, यदि विदेशी मुद्रा भंडार अथवा विदेशी मुद्रा परिसंपत्ति में वृद्धि होती है, तब रुपए का मूल्य भी बढ़ेगा। भारतीय विदेशी मुद्रा परिसंपत्तियाँ सन् 1993 में 26 बिलियन डॉलर से बढ़कर आज 160 बिलियन डॉलर हो गई हैं, यानी इनमें 615 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

आश्चर्य की बात है कि इस अवधि के दौरान बाजार में रुपए में बिलकुल भी बढ़त नहीं हुई, जिसका श्रेय डॉलर का समर्थन करने और रुपए को नीचे रखने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा किए गए हस्तक्षेप को जाता है। इसके विपरीत रुपए का मूल्य 31 रुपए प्रति डॉलर से गिरकर आज 42 रुपए प्रति डॉलर हो गया है, यह गिरावट लगभग 35 प्रतिशत है।

अब रुपया और डॉलर के बीच क्रय शक्ति समानता के बारे में चर्चा करते हैं। सन् 2005 के लिए वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) बाजार निर्धारित रुपया-डॉलर दरों के अनुसार 746 बिलियन डॉलर है, जिसके मुकाबले क्रय शक्ति के रूप में जी.डी.पी. (सकल घरेलू उत्पाद) 3699 बिलियन डॉलर, अर्थात् बाजार निर्धारित विनिमय दर का पाँच गुणा है। इसका मतलब यह है कि रुपए की क्रय शक्ति उसके वास्तविक विनिमय मूल्य से पाँच गुणा है। अत: बाजार में रुपए का मूल्य उसके वास्तविक मूल्य के पाँचवें हिस्से के बराबर है।

अत: सिद्धांत के अनुसार आज बाजार में रुपए का वास्तविक विनिमय मूल्य 42 रुपए प्रति डॉलर के बजाय 9 रुपए प्रति डॉलर होना चाहिए।

इस प्रकार विदेशी परिसंपत्ति में वृद्धि और रुपए की क्रय शक्ति को देखते हुए रुपए का मूल्य सन् 1993 में विद्यमान मूल्य से अधिक होना चाहिए, लेकिन वास्तव में यह उससे कम है। यदि डॉलर-रुपए का विनिमय मूल्य

आज वही होता जो सन् 1993 में था, जब भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी, तो आयातित कच्चे तेल की कीमत आज की कीमत से आधी होती तथा पेट्रोल के भाव आधे हो गए होते।

फिर पेट्रोल को 30 रुपए प्रति लीटर बेचना संभव है। लेकिन यह तभी हो पाएगा जब नीति-निर्माताओं के सिर से सन् 1990 के दशक का निर्यात-प्रेरित विकास का भूत उतर जाए।

मान लीजिए कि आज ईंधन के मूल्य आधे हो जाते हैं। भारत का प्रतिस्पर्धात्मक लाभ क्या होगा? क्या तब निर्यात को प्रोत्साहित करने की कोई आवश्यकता है?

ऐसा लागत लाभ अगर एक बार स्थापित हो जाए तो निर्यात स्वत: बढ़ जाएगा। हम निर्यात को बढ़ावा देने के लिए रुपए का अधोमूल्यन कर रहे हैं और तेल की अवास्तविक ऊँची कीमत से घरेलू अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचा रहे हैं, जिसका हमारी निर्यात स्पर्धात्मकता पर बुरा असर पड़ता है। इस स्थिति को बेतुका या हास्यास्पद ही कहा जा सकता है। इसे पलटना होगा।

जैसा कि किसी ने कहा है, आज रुपया मजबूत होगा तो अर्थव्यवस्था भी अधिक मजबूत हो जाएगी। स्थिति को पलटने की अनुसंशोधन की प्रक्रिया को एक निश्चित कालावधि में पूरा किया जा सकता है, ताकि कोई झटका न लगे।

क्या सरकार और भारतीय रिजर्व बैंक इस पर पुनर्विचार करेंगे? क्या विपक्ष, भाजपा और सी.पी.एम. हड़ताल कराने के बजाय सोच-विचार का रास्ता अपनाएँगे?

(13 जून, 2006)

□

अपनी सभ्यता की रक्षा के लिए तेल से दूर रहें

कच्चा तेल आजकल 130 डॉलर प्रति बैरल के भाव बिक रहा है, सन् 2002 के आरंभ में जो भाव था, उससे सात गुणा ऊँचे भाव पर। पश्चिम और पूर्व में विश्व अर्थव्यवस्था इस बात से डरी-सहमी हुई है कि तेल का यह बवंडर उसकी जड़ों पर क्या कहर ढाएगा। यह समझ पाना जी का जंजाल बना हुआ है कि आज के संदर्भ में इसका क्या अर्थ है और बाद में क्या होगा। तेल की कीमतों में वृद्धि के कारणों को लेकर विशेषज्ञों के बीच मतभेद हो सकता है। लेकिन उसका क्या तात्पर्य होगा यदि कोई विशेषज्ञ कहे कि तेल मूल्यों में कोई वृद्धि नहीं हुई है। वे यह बात कहते ही नहीं हैं, बल्कि उसे प्रमाणित भी करते हैं। जरा सन् 1973 और 1980 के तेल मूल्यों पर नजर डालें। तब से आज तक की मुद्रास्फीति उनमें जोड़ दें। आप देखेंगे कि तेल के वर्तमान मूल्य मुद्रास्फीति समायोजित मूल्यों से 40 प्रतिशत कम हैं। मान लो कि 1980 में तेल की कीमत 38 अमेरिकी डॉलर थी। यदि इसमें सालाना मुद्रास्फीति जोड़ दी जाए, तो वर्तमान मूल्य 140 डॉलर या उसके लगभग होना चाहिए। 'तो तेल के मूल्य कहाँ बढ़े हैं?' वे पूछते हैं।

उनका यह भी कहना है कि 'समय-समय पर तेल के मूल्यों में ऐसे दौरे या झटके आते रहेंगे।'

अमेरिकी फेडरल रिजर्व के भूतपूर्व प्रमुख एलन ग्रीनस्पैन ने एक बार कहा था, 'आज के तेल मूल्यों के बारे में चिंता न करें। सोचें कि सन् 2010 में तेल के भाव क्या होंगे। अभी तो यह सिर्फ 22 डॉलर के करीब है।' अत: चिंता की कोई बात नहीं, उन्होंने निष्कर्ष में कहा। लेकिन हम ग्रीनस्पैन को समझ सकते हैं। उन्हें तो अपनी अर्थव्यवस्था को चलाए रखना है। इसके अलावा, अमेरिका चुनाव की प्रक्रिया में है। चुनावों के नजदीक आने पर कोई भी सच नहीं बोलेगा। एक बात और भी है। पश्चिम में अनौद्योगीकरण हो रहा है। इसलिए वहाँ तेल की खपत कम हो रही है। लेकिन तथ्यों से पता चलता है कि अमेरिका में तेल की खपत सन् 1970 में 16 मि. बैरल प्रतिदिन से बढ़कर आज 20 मि. बैरल प्रतिदिन हो गई है। फिर भी विशेषज्ञों का एक गुट तेल की कीमत में वृद्धि की सच्चाई को नकारता है, या कहता है कि यह वृद्धि चिंता करने योग्य नहीं है।

लेकिन दूसरे लोग तेल के भाव में वर्तमान वृद्धि को कुछ ऐसी प्रवृत्ति का संकेत मानते हैं जो स्थायी होनेवाली है। वे चीन का उदाहरण देते हैं, जहाँ तेल की बहुत माँग है। चीन में आज तेल की खपत 5 मिलियन बैरल प्रतिदिन है, इसके आधे से ज्यादा यानी 2.7 मि. बैरल तेल का वह आयात करता है। पिछले साल इसकी खपत में 15 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई, इस साल 18 प्रतिशत। अमेरिका की जनसंख्या चीन की जनसंख्या के मुकाबले एक-चौथाई है, लेकिन एक अमेरिकी उससे 10 गुणा तेल खर्च करता है, जितना तेल एक चीनी खर्च करता है। चीन में कार और दुपहिया वाहन खरीदनेवालों की संख्या शीघ्र ही 1 अरब होने जा रही है, जिन्हें तेल की जरूरत होगी और इस कारण चीन में तेल की खपत केवल बढ़ेगी ही नहीं, बल्कि विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर देगी। अमेरिका की सरकार ने चीन में तेल की खपत वर्तमान 5 मिलियन बैरल से बढ़कर सन् 2025 तक 11 मिलियन बैरल हो जाने का जो अनुमान लगाया है, बहुत ही कम है। चीन की खपत के बारे में अमेरिका द्वारा पिछले साल लगाया गया अनुमान वास्तविक खपत का 1/8 ही था। कहने का तात्पर्य यह है कि चीन की खपत अमेरिका के अनुमान से 8 गुणा अधिक थी। इसे देखते हुए कि चीन में लाखों-करोड़ों लोग पहले ही तेल बाजार में कतार लगाए खड़े हैं और भारत के लाखों-करोड़ों लोग भी दुपहिया एवं चौपहिया वाहनों को लेकर तेल पर हमला बोलनेवाले हैं। ऐसे में तेल की खपत निश्चय ही आसमान छूने लगेगी। अत: तेल के वर्तमान मूल्यों में, पश्चिम की तरह ही, पूर्व की बदलती

जीवन-शैली की झलक देखी जा सकती है।

वर्तमान वृद्धि किस तरह सन् 1970 या 1980 की वृद्धि से भिन्न है? उस समय तेल मूल्यों में हुई वृद्धि का कारण यह था कि मध्य-पूर्व में युद्ध के बादल मँडराने लगे थे, जिसकी वजह से तेल आपूर्ति में बाधा पड़ने की आशंका थी। अत: वह वृद्धि अस्थायी थी। तेल कीमतों में वर्तमान वृद्धि का कारण तेल खपत का स्थायी तौर पर बढ़ते जाना है, जिसका संबंध लोगों की जीवन-शैली में अपरिवर्तनीय बदलाव से है। क्या इन दोनों स्थितियों में कोई तुलना है? जब कुछ विशेषज्ञ किसी मूल्य वृद्धि से इनकार कर रहे हों और कहते हों कि यह अस्थायी है और दूसरा गुट उस वृद्धि को दीर्घकालीन प्रवृत्ति का संकेत बता रहा हो, तो इन दोनों कथनों के बीच भारत को क्या करना चाहिए? पेट्रोलियम मंत्री लगता है घंटा-प्रति घंटा नीति का पालन करते हैं, जैसा सामान्यत: गहन देखभाल में रखे गए मरीजों के लिए चिकित्सकों द्वारा किया जाता है। लेकिन हमें एक दीर्घकालिक नीति बनाने की बहुत जरूरत है। हमें जितना जल्दी हो सके, जीवाश्म ईंधनों विशेषकर आयातित कच्चे तेल से दूर हो जाना चाहिए। ऊर्जा सुरक्षा हमारी अर्थव्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण है। कच्चे तेल का संबंध कट्टरपंथी इसलामी ताकतों से जोड़ा जाता है। इस साल के छह महीनों में हमने तेल आयातों के लिए उतना ही भुगतान किया है जितना पिछले पूरे साल के लिए किया था। तेल अर्थव्यवस्था ने हमारे संसाधनों को खाली कर दिया है।

अंतर्ग्रस्त लागतों का लिहाज किए बिना हमें आगे चलकर वैकल्पिक ईंधन की तलाश करनी चाहिए। जल्दी ही हमें अपना कोयला उत्पादन बढ़ाना चाहिए। भला हो तेल मूल्यों का, जिसके चलते आजकल हमारी कोयला कंपनियाँ भी लाभ कमा रही हैं। कोयला मूल्य भी उसी तरह चढ़ गए हैं जिस तरह कॉफी के मूल्य बढ़ने के साथ ही चाय के मूल्य बढ़ जाते हैं। कोयले के ऊँचे मूल्य धन को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के अंदर वितरित करते हैं, जबकि तेल के बढ़े मूल्य अर्थव्यवस्था में से अतिरिक्त धन निकालकर बाहर भेज देते हैं। दीर्घकालीन समाधानों के लिए हमें वही करना चाहिए, जो ब्राजील ने जैविक ईंधन को लेकर किया है। हमें स्थानीय ईंधन द्वारा संचालित हजारों छोटे-छोटे विद्युत् उत्पादन केंद्र स्थापित करने चाहिए। हमारे पास एथनॉल ईंधन का उत्पादन करने की जबरदस्त क्षमता है। पेट्रोल एथनॉल मिश्रण 60 प्रतिशत तक एथनॉल के पक्ष में जा सकता है। हम 30000 करोड़ रुपए की एथनॉल अर्थव्यवस्था का निर्माण कर सकते हैं, जिसका मतलब है कि उतना धन मध्य-पूर्व को भेजने के बजाय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में लगाना। एक इसी उपाय से हम सारी ग्रामीण दरिद्रता को मिटा सकते हैं। यदि जरूरत हो तो हम पेट्रो-सब्सिडी को जैविक-ईंधन (बायो-फ्यूल) की ओर मोड़ सकते हैं। लेकिन इसके लिए हमें एक राष्ट्रीय सहमति और एक राष्ट्रीय दीर्घकालीन नीति तथा निवेश की आवश्यकता है। अपनी सभ्यता को बचाने के लिए हमें तेल का त्याग करना होगा। अन्यथा यह हमारे नाती-पोतों के समय में नहीं, बल्कि हमारी आँखों के सामने ही ढह जाएगी।

(27 अक्तूबर, 2004)

□

भारतीय चार्टर्ड एकाउंटेंट्स को विश्व शक्ति बनाएँ

आज के युग में विश्व व्यापार, व्यवसाय और वित्त भू-राजनीति का संचालन करते हैं, क्योंकि विश्वव्यापी स्पर्धा राष्ट्रों के बीच 'व्यापार के लिए संघर्ष' में बदल गई है। इसने लेखा-परामर्शी कंपनियों की शक्ति को गुणोत्तर अनुपात में इतना अधिक बढ़ा दिया है कि उनका प्रभाव सरकार की आर्थिक नीतियों को बना या बिगाड़ सकता है। सार्वत्रिक परामर्शी व्यवसाय, जिसके दिल में हिसाब-किताब बसता है, वस्तुत: एक आंग्ल-सेक्सन एकाधिकार है। उनकी चार बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों ने 70 प्रतिशत से अधिक व्यवसाय पर कब्जा जमाया हुआ है। अधिकतर सरकारें, जिनमें अनेक समृद्ध एवं शक्तिशाली भी हैं, उनके ग्राहकों में शामिल हैं। इस बारे में बड़ी गंभीर और व्यापक स्तर पर आपस में व्यक्त की गई आशंकाएँ हैं कि ये फर्में अपने ग्राहकों में शामिल सरकारों को केवल सेवा प्रदान करने का ही काम नहीं करती हैं, बल्कि राष्ट्रीय और सार्वत्रिक समष्टिवादी आर्थिक मसलों को चुनिंदा राष्ट्रों के पक्ष में बनाने-बिगाड़ने का भी काम करती हैं।

विश्व में लेखा व्यवसायियों की सबसे बड़ी संख्या आंग्ल-सेक्सन फर्मों में कार्यरत है, जिनमें सर्वाधिक संख्या अमेरिका और उसके बाद ब्रिटेन के लोगों की है। लेखा कर्मियों की संख्या के हिसाब से भारत तीसरे नंबर पर है। लेकिन फिर भी लगता है कि भारतीय प्रतिष्ठान को इसका भान तक नहीं है। सक्षम और कुशल भारतीय लेखाकर्मी (सी.ए.) बुद्धि और चालाकी में पश्चिम में यही व्यवसाय करनेवालों से किसी तरह कम नहीं हैं और बराबरी की शर्तों पर उनसे मुकाबला कर सकते हैं। वे सार्वत्रिक परिसंपत्ति, वस्तुत: लेखा परामर्शी बाजार में आंग्ल-सेक्सन के एकाधिकार का एक विश्वव्यापी विकल्प हैं। फिर भी विश्व स्तर पर उनकी पहचान नगण्य है।

ऐसी समस्या 'क्यों' है? इस प्रश्न का उत्तर भारतीय लेखा व्यवसाय को विश्वस्तरीय व्यवसाय में परिवर्तित करने संबंधी नीति में देखा जा सकता है। इसके लिए एक कठोर, निष्करुण विचार प्रक्रिया की आवश्यकता है, लेकिन आरंभ में थोड़ी सावधानी के साथ। इस समस्या को उकेरने और सुलझाने के लिए मात्र एक व्यवसाय-केंद्रस्थ दृष्टिकोण ही काफी नहीं होगा। इसके लिए एक परा-व्यावसायिक, बृहत्तर परिप्रेक्ष्य आवश्यक है। वैश्वीकरण के बाद काफी समय तक वैश्वीकरण को सँभालने के लिए एक राष्ट्रीय सामूहिकीकरण आवश्यक है। इससे स्पर्धा का जो माहौल बनेगा, उसका जवाब कैसे दिया जाएगा, इस बारे में भारतीय विचार-विमर्श में कोई बहुत स्पष्ट मत सामने नहीं आया। प्रबंधित व्यापार की क्रिया-विधि से परिचित न होने के कारण भारतीय प्रतिष्ठान यह नहीं समझ सका कि भारतीय हितों की रक्षा करने और भारत को एक सार्वत्रिक अथवा विश्वस्तरीय खिलाड़ी के रूप में प्रोत्साहित करने के लिए भारत की एक सामूहिक भूमिका होनी चाहिए। भारतीय प्रतिष्ठान यह भी नहीं समझ पाया कि वैश्वीकरण का मतलब फर्मों के बीच स्पर्धा नहीं, बल्कि देशों के बीच स्पर्धा है। वैश्वीकरण राष्ट्रों को इस तरह चिह्नित करता है: भारत एक 'सॉफ्टवेयर' शक्ति, चीन एक 'उत्पादन' पावर हाउस। इस तरह वैश्वीकरण एक सामूहिक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की माँग करता है। इसमें सफल होने के लिए एक राष्ट्रीय सोच और क्रिया की आवश्यकता होती है।

इसके लिए सरकार और कंपनियों के बीच घनिष्ठ समन्वय की भी आवश्यकता है। वैश्वीकरण अत्यंत विकसित देशों की प्रभुसत्ता-संपन्न सरकारों को भी अपने देश के व्यापारिक हितों की रक्षा करने के लिए सामूहिक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया के लिए बाध्य करता है। सोचकर देखिए, अमेरिकी सरकार ने बोइंग के लिए एयर इंडिया का ऑर्डर हासिल करने हेतु किस तरह काम किया और किस तरह फ्रांस सरकार ने एयरबस के मामले में एयर इंडिया को

निशाना बनाया।

आपको शायद याद हो कि एनरॉन दभोल का ठेका पूरी तरह खटाई में पड़ जाने के बाद भी अमेरिकी पदाधिकारी किस तरह एनरॉन दभोल के पक्ष में दबाव डाला करते थे, कैसे जापानी सरकार ने सुजुकी को मारुति का मालिक बनाने के लिए निरंतर प्रयास किया; किस तरह फ्रांस सरकार ने कृषि-शुल्क विवाद को अपने पक्ष में करने के लिए किसानों को डंकेल प्रस्ताव के विरुद्ध आंदोलन करने के लिए उकसाया। यह सूची उदाहरणस्वरूप है, संपूर्ण नहीं है।

अत: भारतीय बहस में जिस विषय पर आंतरिक रूप से सबसे पहले विचार-विमर्श किया जाना चाहिए था, लेकिन नहीं किया गया, वह विषय था कि वैश्वीकरण राष्ट्र से यह अपेक्षा करता है और उसे बाध्य करता है कि विश्व बाजार में व्यवहार करने के लिए एक सामूहिक राष्ट्रीय इच्छाशक्ति तैयार करना बहुत जरूरी होता है, अन्यथा विश्व बाजार राष्ट्रों के साथ न केवल गलत ढंग से पेश आएगा, बल्कि उनके बीच फूट भी डाल देगा। इसलिए कोई भी फर्म या कंपनी कितनी भी प्रबल और प्रभावशाली क्यों न हो, अधिकांश मामलों में उसकी सामर्थ्य या क्षमता इतनी पर्याप्त नहीं होती है कि वह राष्ट्र के सामूहिक समर्थन के बिना विश्व स्तर पर अकेले ही व्यवसाय के मैदान में संघर्ष कर सके। राष्ट्रीय हित का बोध होना किसी भी राष्ट्र की सामूहिक इच्छा-शक्ति की बुनियाद है। वैश्वीकरण के संबंध में हमारी प्रतिक्रिया इसी के अभाव में लंबे समय तक, बहुत लंबे समय तक विफलता का कारण बनी। वैश्वीकरण पर हमारी बहस में 'सीमारहित विश्व' और 'विश्व ग्राम' जैसे घिसे-पिटे शब्द ही छाए रहे।

ये सब ऊपरी बातें थीं, व्यावहारिक नहीं। हालाँकि अन्य सभी ने इन रूढ़ोक्तियों का नारों के रूप में प्रयोग किया, लेकिन हमने उन्हें सही मान लिया और उनमें गंभीरता से विश्वास कर लिया।

भारतीय राष्ट्रीय सामूहिकता विकसित करने में विलंब की कीमत

इस सतही बहस और मतैक्य के चलते भारतीय राज्यतंत्र, अधिकारी वर्ग और व्यवसायी वर्ग के बीच ऐसे मतभेद सामने आए, जिन पर समझौता होना संभव नहीं था, अत: बातचीत का सिलसिला टूट गया। इसके कारण भारतीय सामूहिक सम्मति बनते-बनते रह गई और मामला लटक गया।

इस तरह वैश्वीकरण के महत्त्वपूर्ण आरंभिक वर्षों में एक विस्तृत एवं विभाजित भारत को वैश्वीकरण की प्रक्रिया के विषय में लिखना-बोलना पड़ा, जबकि इसके विपरीत पश्चिम ने बीसियों वर्षों से तैयारी की हुई थी। पश्चिमी नीति-निर्धारक समूह, जैसे कि 'इकोनॉमिस्ट' पत्रिका का स्पष्ट मत था कि पश्चिम को वैश्वीकरण की योजना को ऐसी शक्ल देनी चाहिए कि वह बाकी सबसे आगे रह सके। हमें मिलाकर बाकी देशों के पास कोई सुराग तक नहीं था कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया और विश्व व्यापार संगठन का उन पर किस तरह का प्रभाव पड़ने वाला है। अत: आरंभ में वैश्वीकरण की योजना पश्चिम और शेष देशों के बीच विशेषज्ञ बनाम नौसिखियों का खेल बन गई। हमने सन् 2002 में 'दोहा सम्मेलन' होने से पहले तक विश्व व्यापार संगठन वार्त्ता में जिस तरह की गड़बड़ी बार-बार की, उससे यह स्पष्ट हो गया था।

दोहा में मुरासोली मारन जैसे सुलझे वाणिज्य मंत्री के नेतृत्व में एक दृढ़-निश्चयी भारत ने विश्वमंच पर मोर्चा सँभाला और पासा पलट दिया। इससे पहले तक वहाँ पश्चिम का दबदबा रहता था। संपूर्ण भारत और प्रचार-माध्यम भी उनके साथ खड़ा हो गया। उस मंच पर भारत ने पहली बार अपनी सामूहिक शक्ति का परिचय दिया। तब से भारत, जो कभी बराए नाम वार्त्ता में शामिल रहता था, विश्व व्यापार संगठन वार्त्ता में एक निर्णायक घटक की

भूमिका निभाने लगा है। (भारत पर ध्यान दिए जाने का कारण यह भी हो सकता है कि भारत एक परमाणु शक्ति बन चुका था, लेकिन यह सच गले नहीं उतर रहा था। हालाँकि हमारे बहुत से अर्थशास्त्रियों का विचार था कि पोखरण के साथ भारत के बुरे दिन आ गए, लेकिन उसका प्रभाव कुछ और ही देखने में आया)।

हमने वैश्वीकरण के भू-राजनीतिक आधार की रूपरेखा तैयार करने में पूरा एक दशक व्यर्थ गँवा दिया। फिर भी, अब तक जो सामूहिक राष्ट्रीय सम्मति बन पाई है, वह व्यवसाय-सरकार मिलन-बिंदु तक ही सीमित है, इसीलिए अभी तक आंशिक है, पूरी नहीं। हालाँकि देर से ही सही, भारतीय व्यवसाय संघों को सरकार के साथ आमने-सामने बैठकर बातचीत का सिलसिला बनाने में सफलता मिल गई। इस उपलब्धि को हासिल करने में उनकी आर्थिक शक्ति और प्रचार-माध्यम से संपर्क साधने की क्षमता का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

लेखाविधि परामर्शी : राष्ट्रीय सामूहिक सम्मति का हिस्सा नहीं

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सबसे बड़े क्षेत्र, परामर्शी—लेखाविधि खंड समेत—सेवा क्षेत्र और सरकार को अभी तक अपने कार्यों को एक साथ जोड़ना है, वैचारिक समन्वय स्थापित करना है और एक राष्ट्रीय सामूहिक इच्छा-शक्ति के रूप में कार्य करना है।

लेखाकरण व्यवसाय को लें। इसका अपना कोई सी.आई.आई. या फिक्की या एसोचैम नहीं है, जो समन्वय और संगठित करने का काम कर सके। इसके अलावा भारतीय लेखाकरण क्षेत्र आज भी उस सिद्धांत एवं नीति को भलीभाँति समझ नहीं पाया है, जो भारतीय व्यवसाय के मामले में सफल सिद्ध हुई। यह सच है कि भारतीय व्यवसाय को वैश्वीकरण प्रक्रिया के आरंभ में जो राहत मिली, वह लेखाकरण-परामर्शी व्यवसाय को नहीं मिली। भारत सरकार ने राष्ट्रीय बाजार में विदेशी स्पर्धा का अशांकित प्रवेश सुनिश्चित करने के लिए शुल्क संबंधी नीतियाँ तय कर ली थीं। यह उपाय कारगर सिद्ध हुआ।

भारतीय मोटर वाहन निर्माण क्षेत्र को ही लें, जिसे कभी स्पर्धा योग्य नहीं समझा जाता था। तालमेल बैठाने के लिए मिले समय का उपयोग करके इस क्षेत्र ने दुबारा अपने आपको पूरी तरह तैयार किया और अब यह उद्योग विश्व स्तर पर भी स्पर्धा में शामिल होने में सक्षम हो गया है। भारतीय कारों का अब निर्यात किया जा रहा है, जबकि एक दशक पहले तक ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता था। लेकिन इसके विपरीत भारतीय लेखाकरण-परामर्शी व्यवसाय को ऐसे समायोजन का कभी अवसर नहीं मिला, क्योंकि वैश्वीकरण की शुरुआत राष्ट्रीय स्तर पर सबसे पहले इसी व्यवसाय से हुई। विदेश प्रत्यक्ष के साथ ही, लेखाविधि-परामर्शी बाजार के दरवाजे बहुराष्ट्रीय लेखाकरण फर्मों के प्रतिनिधि कार्यालयों के लिए खोल दिए गए। भारतीय लेखाकरण व्यवसाय को सँभलने तक का मौका नहीं मिला और शीघ्र ही राष्ट्रीय स्तर पर भी इस व्यवसाय के लगभग अभेद्य किले में सेंध लगनी शुरू हो गई।

हारे हुए मैदान को पुन: हासिल करने के लिए कोई भी नीति या योजना बनाने हेतु यह पृष्ठभूमि आवश्यक है, वह नीति लीक से हटकर भी हो सकती है। जी हाँ, हमारी सबकी मिली-जुली असावधानी के कारण जो नुकसान होना था, हो चुका है। हम अपने लक्ष्य से करीब दो दशक पीछे चले गए हैं। लेकिन हम घड़ी की सुई आगे घुमा सकते हैं और यदि हम कोई सबल रणनीति अपनाते हैं तो पिछले दो दशक के नुकसान की भरपाई अगले पाँच वर्ष में कर सकते हैं। तुलनात्मक तर्क के लिए परा-व्यावसायिक दृष्टि से देखें।

उदाहरण के लिए आज चीन और जापान का सबसे बड़ा फायदा क्या है, जिसे दुनिया उनका राष्ट्रीय ठप्पा समझती है? वह है इन दोनों देशों का कम-लागतवाला, परिवार-उन्मुखी, बचत-प्रेरित रहन-सहन का तरीका और

उसी के फलस्वरूप चीन में उत्पादन लागत कम है तथा भारत अल्प लागत की सॉफ्टवेयर सेवा दे पाता है। वस्तुत: आज विश्व अर्थव्यवस्था को चीन और भारत की बचत-आधारित जीवन-शैली ही आगे बढ़ाती है। कम लागतवाले उत्पादन और सॉफ्टवेयर की योजना ने इन क्षेत्रों में सभी जगह लागत को नीचे ला दिया है। इस योजना की नकल विश्व स्तर पर लेखाकरण-परामर्शी क्षेत्र में की जा सकती है। विश्व स्तर पर लेखाकरण-परामर्शी व्यवसाय के क्षेत्र में आज बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों के विरुद्ध कारगर स्पर्धा की बहुत कमी है, विशेषकर उच्च लागतवाले लेखा-परामर्शी गुटतंत्र के विरुद्ध कम लागतवाले विकल्प की। आंग्ल-सेक्सन जगत् के बाहर केवल एक ही देश कम लागतवाला किंतु कुशल लेखा-परामर्शी विकल्प दे सकता है और वह देश है भारत। भारतीय विकल्प में दोनों फायदों का जोड़ है, अर्थात् भारत को न केवल आंग्ल-सेक्सन पद्धति आधारित शिक्षा और प्रशिक्षण प्राप्त है, बल्कि उसके पास सांस्कृतिक रूप से अपनाई गई अल्प लागतवाली देशी जीवन-शैली भी है।

आधुनिक जगत् की दृष्टि में अत्यधिक मूल्यवान् भारत की इस सभ्यतागत परिसंपत्ति का हमने अपने लिए लाभ उठाना नहीं सीखा है। इसका कारण यह है कि हमारे लेखाकरण-परामर्शी क्षेत्र का आकार छोटा है और उसके पास प्रभावशाली ब्रांड की भी कमी है। वास्तव में, हमारे प्रतिष्ठान को इस सामूहिक, सभ्यतागत परिसंपत्ति के महत्त्व का बोध ही नहीं है। इस सभ्यतागत मूल्य को हमें तालाबंद संदूक से बाहर निकालना होगा, भले ही ऐसा करने के लिए हमें कोई अपरंपरागत या फूहड़ तरीका ही क्यों न अपनाना पड़े! ताला खोलने की इस प्रक्रिया का अपरंपरागत नीतियों तथा सामूहिक सम्मति में सहयोग करनेवालों द्वारा लेखाकरण-परामर्शी व्यवसाय और राष्ट्रहित में समर्थन किया जाना जरूरी है। विश्व बाजार जब लाभ बाँटेगा, पूरा विश्व भी उससे लाभान्वित होगा।

ऐसी आक्रामक नीति भारतीय लेखाकरण व्यवसाय में अवांछित आत्मसंशय अथवा संकोच को भी दूर कर देगी। भारत में लेखाकरण-परामर्शी व्यवसाय ने अपनी जो सूरत बनाई है, वह इस लायक नहीं है कि भारत में लेखाकर्मियों के अंदर विश्व स्तर तक उठने की महत्त्वाकांक्षा उत्पन्न कर सके या उनकी ऐसी इच्छा का संबल बन सके, और यही कारण है कि आज उनमें अलग-अलग स्तरों पर आत्मविश्वास का अभाव पाया जाता है।

आकार की सीमाओं और ब्रांड प्रभाव की कमी से निपटने की रणनीति

पहले दो समस्याओं को लेते हैं—पहली, अपेक्षित आकार की कमी और दूसरी, ब्रांड प्रभाव का न होना। इन दोनों अपेक्षाओं या दोनों में से किसी भी एक की अपेक्षा को रातोरात परंपरागत या जैविक प्रक्रिया से पूरा नहीं किया जा सकता। अत: इन दोनों बातों को पूरा करने के लिए हमें लकीर से हटकर ही कोई उपाय खोजना होगा।

यहाँ एक ऐसा ही अनोखा सुझाव है। मान लो कि आई.सी.ए.आई. (भारतीय चार्टर्ड अकाउंटेंट्स संस्थान), टी.सी.एस., इंफोसिस, विप्रो और आईमैक्स (जिसे एक परामर्शी ब्रांड के रूप में 'इकरा' द्वारा प्रवर्तित किया गया है) को इस बात के लिए राजी कर ले या मना ले कि उन्हें विशेष प्रयोजन माध्यम (एस.पी.वी.) के जरिए और अपनी छाप (ब्रांड) के आधार पर चुनिंदा लेखाकरण-परामर्शी क्षेत्रों में विविधता लानी चाहिए कि वे आदर्श रूप में चयनित उन्हीं सी.ए. फर्मों के साथ नेटवर्क करें और संपर्क स्थापित करें, जो एक सहयोगी परामर्शी कंपनी को आगे बढ़ाने के लिए सहमत हों।

तब बाजार में बहु-अनुशासनिक सेवाओं की आवश्यकता को देखते हुए, नेटवर्क में अन्य व्यवसायों, दूसरी व्यावसायिक फर्मों और आई.आई.टी., आई.आई.एम. संस्थानों तथा अन्य व्यावसायिक एवं प्रबंध संस्थानों को भी शामिल किया जा सकता है। शुरुआत के तौर पर यह संकल्पना कम-से-कम भारत के अंदर ब्रांड एवं आकार

संबंधी समस्याओं को हल करने में अवश्य ही सहायक होगी। विश्व का ध्यान आकृष्ट करने के लिए राष्ट्रीय क्षमता और आकार का होना एक पूर्वापेक्षित शर्त है। विश्व स्तर पर पहचान बनाने के लिए विश्व का ध्यान खींचना पहला कदम है। इसके लिए भारतीय लेखाकरण व्यवसाय को पहले राष्ट्रीय स्तर पर एक शक्ति के रूप में उभरना चाहिए। लेकिन भारतीय लेखाकरण (सी.ए.) कंपनियाँ भारत में ही अपना प्रभुत्व जमाने के लिए तैयार नहीं दिखती हैं, फिर वे विश्व बाजार में अपना उचित स्थान पाने के लिए क्या स्पर्धा कर पाएँगी। यदि हमारे पेशेवर लेखाकर्मी सिर्फ बाहरी स्रोतों का लक्ष्य (आउटसोर्स डेस्टिनेशंस) बनकर रह गए हैं और भारत में वे बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों (एम.ए.एफ.) के लिए कामगार जुटाने का काम करते हैं, तो उन्हें भूल जाना चाहिए कि वे विश्व बाजार में कभी सम्मानित स्थान पा सकेंगे।

अत: भारत में बड़े और ब्रांडयुक्त व्यावसायिक सेवा नेटवर्क उत्पन्न करने की जरूरत है। सुझाया गया उपाय आकार और ब्रांड-प्रभाव की कमी को हल कर देगा। कैसे? नेटवर्क के केवल चार्टर्ड अकाउंटेंटवाले भाग पर नजर डालें। हम मान लेते हैं कि अगले 3 वर्ष में करीब 50 आदर्शी रूप से चयनित और उच्च प्रशिक्षण प्राप्त फर्में टी.सी.एस. द्वारा नेटवर्क से जोड़ी जा सकती हैं, जिनमें से प्रत्येक फर्म में औसतन पाँच साझेदार और पाँच उच्च योग्यता प्राप्त सी.ए. होंगे। यह नेटवर्क एक गुणात्मक, प्रशिक्षित एवं पहचान रखने वाले 1000 चार्टर्ड अकाउंटेंट के कार्यदल को तैयार कर सकेगा, जो भारत के अंदर या विदेश में महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक कार्य को सँभालने में सक्षम होंगे। टी.सी.एस. (टाटा कंसल्टेंसी सर्विसेज) को अपनी जेब खाली करने की जरूरत नहीं है। वह कंपनी प्रत्येक फर्म के लिए उचित प्रशिक्षण शुल्क ले सकती है। उक्त नेटवर्क अन्य मानदंड भी निर्धारित कर सकता है, जैसे कि आधारभूत सुविधाएँ और आई.एस.ओ. प्रमाणीकरण। ब्रांड महत्त्व की रक्षा के लिए टी.सी.एस. द्वारा संबद्ध फर्मों पर आदर्श अनुशासनिक मानदंड लागू किए जा सकते हैं। इसी प्रक्रिया से अन्य व्यावसायिक फर्मों को भी शामिल किया जा सकता है। नेटवर्क से जुड़ी फर्म उसी प्रक्रिया द्वारा अपनी सेवाओं का विपणन या बिक्री कर सकती है, जिस प्रक्रिया को अपनाकर संबद्ध करनेवाली फर्म सामान्यत: अपनी सेवाएँ बेचेगी, जब तक कि नेटवर्क स्वयं यह सब करने में दक्ष नहीं हो जाता। आय का हिस्सा-बाँट करने के लिए कोई उचित एवं मानने योग्य रास्ता निकाला जा सकता है।

यदि टी.सी.एस., इंफोसिस, विप्रो या इकरा लेखाकरण-परामर्शी शाखाएँ खोलने के लिए तैयार हो जाएँ और व्यावसायिक आधार पर सहसंबद्धता आमंत्रित करें, तो सैकड़ों सी.ए. फर्म अपने विशेष प्रयोजन साधन (एस.पी.वी.) के जरिए उनसे जुड़ जाएँगी और कीमत का भुगतान करेंगी। यह कार्य इन फर्मों के मौजूदा कारोबार से सर्वथा अलग होगा और उनके मौजूदा नेटवर्क तथा नेटवर्क क्षेत्र के बीच स्पष्ट सीमारेखा होगी तथा किसी तरह की कोई स्पर्धा नहीं होगी। यह संकल्पना यदि सैद्धांतिक रूप से व्यवहार्य पाई जाती है तो इसका विस्तृत ब्योरा तैयार किया जा सकता है।

क्या आई.सी.ए.आई. इस दिशा में अगुवाई करेगा? क्या यह एक ही व्यवसाय में होने के नाते और राष्ट्रहित में, उद्योग तथा सरकार से समर्थन पाने के लिए अपने प्रभाव का इस्तेमाल करेगा? क्या औपचारिक व्यावसायिक नेतृत्व इस सुझाव पर विचार करने के लिए कुछ समय निकालेगा और आवश्यक प्रयास करेगा? क्या यह नेटवर्क योजना-निर्माण में परा-व्यावसायिक दृष्टिकोण अपनाएगा? क्या चार्टर्ड अकाउंटेंटों की कंपनी परामर्शी शाखा को उन सामान्य व्यावसायिक बंधनों से मुक्ति देगी, जो आज केवल भारतीय सी.ए. फर्मों पर लागू होते हैं, और जिनके चलते बहुराष्ट्रीय लेखा-कंपनियों को भारतीय सी.ए. फर्मों का उसी तरह मजाक उड़ाने का मौका मिलता है, जिस

तरह वरिष्ठ अधिकारी अपने मातहतों पर हँसते हैं? ये बड़ी गंभीर और महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। क्या सी.ए. फर्मों का कोई समूह आई.सी.ए.आई. के औपचारिक घेरे से बाहर आकर मिलेगा और इस योजना पर काम शुरू करेगा?

इस तरह की लीक से हटकर व्यवसाय योजना ही भारतीय सी.ए. व्यवसाय में तेजी से क्षमता का निर्माण कर सकती है। आई.सी.ए.आई. द्वारा प्रस्तावित नेटवर्क संबंधी वर्तमान मानदंड तेजी से बदलते वातावरण में शायद कारगर सिद्ध न हो सकें। अर्थात् ऐसे समय में, जब स्थिति करवट बदल रही हो और विश्व बाजार योजना के केंद्र में पहुँचने की कोशिश कर रहा हो, जहाँ अर्थव्यवस्था के केंद्र में कभी सरकार मौजूद रहती थी और बाजार (निजी, विश्वव्यापी क्षेत्र) हाशिए पर रहता था। आई.सी.ए.आई. को कानूनन दुबारा बनाना हमारे हाथों में नहीं है, क्योंकि उसमें सरकार की बड़ी भूमिका है। इसलिए जब तक औपचारिक व्यावसायिक गुट के बाहर पहल नहीं की जाएगी, तब तक किसी भी नवोन्मेषी विचार के बारे में विशेष खोज-परख नहीं होगी।

पारदेशीय गठबंधन

हमें आंग्ल-सैक्सन परिधि से बाहर के देशों के साथ भी गठजोड़ करना पड़ सकता है, क्योंकि वे भी बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों को टक्कर देने के लिए बहुत उत्सुक होंगे। ऐसे गठबंधन युक्तिसंगत और द्विपक्षीय एवं क्षेत्रीय भी होंगे। लेखाकरण-परामर्शी सेवाओं के क्षेत्र में कुछ ही देशों का प्रभुत्व होने के कारण, उन दूसरे देशों के साथ सीमित से लेकर व्यापक स्तर पर गठबंधन करना मुश्किल नहीं होगा, जिनके पास लेखा-परामर्शी सेवाएँ चाहनेवाले देशों की बहुतायत है।

अनुसंशोधन आवश्यक

लेकिन इससे पहले कि वही बुनियादी नियम बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों पर लागू हो जाएँ, भारतीय सी.ए. फर्मों को अनुसंशोधन के लिए कुछ समय देना होगा। बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों को एक सीमित अवधि के लिए नेटवर्क योजना से बाहर रखना जरूरी है। आई.सी.ए.आई. ने बहुराष्ट्रीय लेखा फर्मों को मोड अर्थात् पद्धति-3 के अंतर्गत भारतीय बाजार से बाहर रखने के बारे में विश्व व्यापार संगठन वार्त्ता का जो नमूना प्रस्तुत किया था, उसको आई.सी.ए.आई. और सरकार के घरेलू या आंतरिक उदारीकरण के प्रस्तावों तथा आई.सी.ए.आई. द्वारा सुझाई गई नेटवर्क योजना तैयार करने में कठोरता से लागू किया जाना चाहिए। इसके विपरीत, सी.ए.आई.ए. की वर्तमान नेटवर्क योजना भारतीय बाजार को पद्धति-3 की दिशा में खोल देती है, जिससे कि बहुराष्ट्रीय लेखा फर्म नेटवर्क से जुड़े अपने भारतीय सहयोगियों के जरिए उसमें प्रवेश कर सके। इस तरह सीधा रास्ता बंद होने के बावजूद उन्हें पीछे के रास्ते से अंदर आने दिया गया। इससे आई.सी.ए.आर. द्वारा किए गए उन सारे अच्छे प्रयासों पर पानी फिर जाता है जो उसने भारत में एम.ए.एफ. (बहुराष्ट्रीय लेखा फर्म) के लिए मोड-3 का रास्ता बंद रखने के लिए किए थे।

भारतीय सी.ए. फर्मों को सामंजस्य करने का वह समय भी नहीं मिला, जो मिसाल के तौर पर भारतीय कंपनी क्षेत्र को विदेशी स्पर्धा का सामना करने के पहले दिया गया था, और इस तरह भारतीय व्यवसाय, भारत सरकार और सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों ने उन्हें घाटे में रखा; क्योंकि जो नियम बनाए थे, वे भारत में भारतीय फर्मों के विरुद्ध बहुराष्ट्रीय लेखा-फर्मों की मदद करनेवाले थे।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय लेखाकरण (सी.ए.) व्यवसाय को नेतृत्व और समानुभूति की आवश्यकता है —एक साहसिक नेतृत्व, जो उनकी अगुआई कर सके और एक सहानुभूति रखनेवाली सरकार, जो उनकी समस्याओं व उनकी वेदना को समझ सके। यदि आई.सी.ए.आई. और सरकार मिलकर पहल नहीं करेंगे, तो इस व्यवसाय के उन सदस्यों को अपनी पहल पर नेटवर्किंग की समस्या को हल करने के लिए काररवाई करनी होगी, जो यह समझ रखते हैं कि निजी स्वार्थ और उच्चतर राष्ट्रीय हित के बीच केंद्राभिमुखता है, अर्थात् दोनों का केंद्रबिंदु एक ही है। विश्व स्तर पर खोए हुए स्थान को पुन: प्राप्त करने के लिए यही अंतिम वैकल्पिक उपाय है।

□

विश्व के लिए आदर्श भारत के पास

''भारत से सीखो, भारत को कैसे विकसित करना है,'' महात्मा गांधी ने पंडित नेहरू से कहा। लेकिन उनका यह युवा शिष्य अवज्ञाकारी था। उन्होंने कहा, ''नहीं, हमें पश्चिम की ओर, पश्चिमी सभ्यता की ओर देखना है, इससे अर्थशास्त्र भारत को चकित कर देगा।'' उनका शिक्षक, उनका परामर्शदाता उनको मना नहीं सका, अत: दोनों के बीच बहुत तनाव उत्पन्न हो गया। पंडित नेहरू ने भारत के लिए समाजवादी आदर्श चुना; यह पश्चिम द्वारा सराहे गए दो तरीकों में से ज्यादा खराब था। दूसरा तरीका बाजार पूँजीवाद का था।

जैसा कि पूर्वानुमान था, पंडित नेहरू ने भारत के लिए आर्थिक शिक्षा लेने के उद्देश्य से सोवियत रूस की ओर देखा। हमें रूस से अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ने के बजाय, खेल-कूद की शिक्षा लेनी चाहिए थी। यहाँ तक कि वैचारिक दृष्टि से सोवियत संघ के चचेरे भाई चीन ने भी ऐसा करने से इनकार कर दिया। उन्होंने अर्थशास्त्र की शिक्षा अपने अनुभव से ग्रहण की, दूसरों से नहीं ली। लेकिन पंडित नेहरू ने अपनी मृत्यु से करीब एक वर्ष पहले, संसद् में इस बात को अंतत: लगभग स्वीकार कर लिया था कि आर्थिक विकास का पहला पाठ उन्हें गांधीजी से पढ़ना चाहिए था। इससे पहले कि वह दिशा बदलते, उनका निधन हो गया।

नेहरू ने शायद अपने किए को रद्द करने के लिए लालबहादुर शास्त्री के रूप में अपना उत्तराधिकारी ठीक ही चुना था। और शास्त्री ने वह कर भी दिया होता; उस समय की दृढ़ता उनके अंदर थी। अन्यथा उन्होंने लोगों को खाद्यान्न की कमी से निपटने के लिए सोमवार का उपवास रखने के लिए नहीं कहा होता। जरा सोचिए, एक प्रधानमंत्री लोगों से व्रत रखने के लिए कह रहा है। दुर्भाग्यवश नियति ने उनको हमसे छीन लिया। इंदिरा गांधी को सोवियत संघ में एक वैदेशिक मित्र मिल गया, जिसके बल पर वह अपनी पार्टी के अंदर और बाहर मौजूद 'दक्षिणपंथी' गुट से अपने नेतृत्व के प्रति चुनौती को दूर रख सकती थीं। तब तक समाजवाद किसी की पसंद नहीं रह गया था, बल्कि इसमें पक्का विश्वास रखना मजबूरी बन गई; इसके विरुद्ध जानेवाले को 'गरीब-विरोधी', 'अमीर-समर्थक' और यहाँ तक कि 'सी.आई.ए. एजेंट' करार दे दिया जाता था। आपातकाल के दौरान भारत के संविधान में समाजवाद की कलम रोप दी गई। न्यायपालिका ने समाजवाद को मंजूरी दे दी। अधिकारी-तंत्र ने उसे आंतरिक कार्य प्रणाली में शामिल कर लिया। भारतीय उद्योग संघ (एफ.आई.आई.) ने भी उसका स्वागत किया।

सबकुछ बदलने लगा। सन् 1980 के दशक में समाजवाद कमजोर पड़ने के कारण अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष और वर्ल्ड बैंक ने अपने ग्राहकों से भारी माँग करना शुरू कर दिया; भारत उनके बड़े ग्राहकों में था। उन्होंने भारत को आदर्शों के नुस्खे देने शुरू कर दिए। 'अर्जेंटीना और ब्राजील से सीखो', उन्होंने कहा। क्या वे फुटबॉल सिखाते हैं या अर्थशास्त्र? जल्दी ही अर्जेंटीना और ब्राजील ने अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी कि वे फुटबॉल ज्यादा अच्छा सिखा सकते हैं, अर्थशास्त्र नहीं। आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक ने उनका नाम लेना बंद कर दिया। बर्लिन की दीवार गिरा दिए जाने और सोवियत संघ का अस्तित्व मिट जाने के फलस्वरूप आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक के पास भारत को राजी करने के लिए किन्हीं नमूनों की जरूरत नहीं रही, उन्होंने कानून बदलने शुरू कर दिए।

भारत के अंदर वैश्वीकरण के नए-नए समर्थकों ने उनकी ओर से प्रचार करने का काम सँभाल लिया। पाँच साल पहले यही नए परिवर्तक कहते थे, 'मेक्सिको से सीखो'। लेकिन जब से मेक्सिको की मुद्रा डॉलर के मुकाबले एक रद्दी कागज बनकर रह गई, तब से कोई भी मेक्सिको का नाम नहीं लेता। मेक्सिको की तबाही ने हमारे बुद्धिजीवियों का हौसला नहीं तोड़ा। उन्होंने कहा, 'दक्षिण कोरिया और थाईलैंड को देखो, हमें मलेशिया और

इंडोनेशिया से सबक लेना चाहिए।' कहा कि 'वैश्वीकरण करो, पाँव पसारो और रुपए को पूर्णतया परिवर्तनीय बनाओ, जैसे उन्होंने अपनी मुद्रा को परिवर्तनीय बनाया है।'

जल्दी ही दक्षिण अमेरिका के साथ जो कुछ हुआ था, वही दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ हो गया। पिछले दस माह में इन दक्षिण एशियाई नमूनों के टुकड़े-टुकड़े हो गए। कोरियाई वैश्वीकरण से इतने तंग आ गए कि उन्होंने कोरिया के सिनेमाघरों में 'टाइटैनिक' फिल्म का प्रदर्शन दस दिनों के अंदर समाप्त करने के लिए बाध्य कर दिया। कोरिया के ग्रामीणों ने विदेशी कारों पर पत्थर फेंकने शुरू कर दिए। मलेशिया में डॉ. महातिर मोहम्मद ने अपने उस नामजद-उत्तराधिकारी को पद से हटा दिया जो असीमित वैश्वीकरण पर बराबर जोर दे रहा था। उसने मलेशिया की मुद्रा को मुक्त रूप से परिवर्तनीय नहीं बनाया। मुद्रा-संकट ने शक्तिशाली जापान के दरवाजे पर भी दस्तक दी और उसके आत्मविश्वास को बहुत ठेस पहुँचाई। और अंततः मुद्रा बाजार के संकट ने रूस को इतना जबरदस्त झटका दिया कि कभी महाशक्तिशाली कहे जानेवाले देश ने वस्तुतः दिवालिया हो जाने की घोषणा कर दी। अब वैश्वीकरण के समर्थक आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक, अमेरिकी तथा भारतीयों ने अपने सभी प्रदर्शन-योग्य नमूनों को खो दिया है। 'वाल स्ट्रीट', 'दि इकोनॉमिस्ट', 'दि टाइम' और 'दि न्यूजवीक' आदि पत्र-पत्रिकाएँ आज किसकी भाषा बोल रहे हैं?

अपनी श्वास रोककर सुनें, स्वदेशी जागरण मंच क्या कहता है। समाजवाद को ध्वस्त होने में यद्यपि 70 वर्ष लगे, विश्वव्यापी पूँजीवाद दस वर्ष के अंदर ही अस्त होने जा रहा है, उसी तरह जैसे स्वामी विवेकानंद ने कहा था—कुछ घंटे आनंद और उल्लास से परिपूर्ण जीवन बिताना, फिर पानी पर उठी तरंगों की तरह मिट जाना। यह घोषणा करते हुए कि विश्वव्यापी पूँजीवाद विफल हो गया है, 'न्यूजवीक' लिखता है, 'लेकिन सार्वत्रिक पूँजीवाद एक गहरे स्पष्टीकरण की माँग करता है... पूँजीवाद का प्रसार आर्थिक निर्माण में सिर्फ एक प्रयोग मात्र नहीं है। यह दूसरे राष्ट्रों की संस्कृति और राजनीति पर धावा बोलने जैसा है, जिसके कारण टकराव होना लगभग निश्चित है।'

जब भारत में स्वेदशी विचारक पिछले सात वर्षों से उन्हीं बातों की रट लगाते रहे, तब हमारे बुद्धिजीवियों ने कहा, 'इन लोगों को पता ही नहीं कि अर्थशास्त्र क्या है, वे अर्थशास्त्र के बारे में बात कर रहे हैं।' किसी ने बड़े घमंड से यहाँ तक कह डाला, 'यदि स्वदेशी प्रवक्ताओं को अर्थशास्त्रियों का दर्जा दिया जाए, तो ठीक है, मुझे भरतनाट्यम नर्तक कहा जा सकता है।' उसके घमंड की तुलना उस देश के घमंड से ही की जा सकती है, जिस देश में वह रहता है। जरा देखें, पश्चिमी बौद्धिकवाद के प्रमुख समाचार-पत्र, 'दि इकोनॉमिस्ट' का क्या कहना है —'वाशिंगटन का विश्वव्यापी वित्तीय उदारीकरण की ओर तेज कदम उठाने का सपना बिखर रहा है। यकीन करना मुश्किल है कि एक साल पहले ही अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) स्वच्छंद पूँजी प्रवाह के प्रति एक नई सार्वत्रिक वचनबद्धता का बिगुल बजा रहा था। आज लगभग सभी प्रेक्षकों का यह मानना है कि पूँजीगत बाजारों का समयपूर्व उदारीकरण (जिसे प्रायः आई.एम.एफ. ने ही बढ़ावा दिया) भी मुद्रा-संकट का एक कारण था।' यह वही विफल योजना है, जिसे चिदंबरम् का बढ़िया बजट देश को सौंपने जा रहा था—भारतीय रुपए को पूर्ण परिवर्तनीय बनाने की योजना।

उदारीकरण की दुहाई देनेवालों के कारण नहीं, बल्कि उनके बावजूद, हम थाईलैंड और मलेशिया जैसी हालत में पड़ने से बच गए। वे भारत को मुक्त परिवर्तनीयता की बरबादीवाली योजना में उतनी जल्दी नहीं फँसा सके, जितना जल्दी वे फँसाना चाहते थे। एक प्रश्न हर कोई पूछना चाहता है कि 'भारत और चीन तबाही से कैसे बच गए?' हर किसी से इसका एक ही उत्तर मिलता है—'वह इसलिए, क्योंकि उन्होंने ज्यादा तेजी से वैश्वीकरण नहीं किया।'

'वाल स्ट्रीट' अखबार अब सारे विश्व के लिए एक नियत विनिमय दर की सिफारिश करता है। पॉल क्रुगमैन दुनिया को भारत का उदाहरण देता है। क्या वह जानता है कि हम एक आदर्श इसलिए हैं, क्योंकि चिदंबरम् और मोण्टेक जैसे लोगों और उनके समझदार सलाहकारों की योजना सफल नहीं हो पाई? उनकी विफलता के कारण हम एक आदर्श हैं। यदि वे सफल हो जाते, तो हमारा भी वही हाल होता, जो इंडोनेशिया और थाईलैंड का हुआ।

'दि इकोनॉमिस्ट' यहीं नहीं रुकता। वह आई.एम.एम. को विकासशील देशों के साथ 'अत्यधिक हेकड़ी' से पेश आने का दोषी मानता है। यह अमेरिका पर अन्य देशों को 'आई.एम.एफ. की बात मानने' के लिए बाध्य करने का आरोप लगाता है। ये सब उन लोगों के मुहावरे हैं जो भारत में वैश्वीकरण का विरोध करते हैं। अत: पश्चिमी बुद्धिजीवियों ने अपना रवैया बदल दिया है। संभवतया हमारे बुद्धिजीवी भी वही करेंगे। सच में, लेकिन एक उचित अंतराल के बाद। सीख एकदम स्पष्ट है। रवींद्रनाथ टैगोर के अनुसार, 'ईश्वर ने एक विशिष्ट प्रश्नपत्र हर राष्ट्र को भेजा। कोई भी राष्ट्र उसमें दिए गए प्रश्नों के उत्तर दूसरों की उत्तर-पुस्तिका से नकल करके नहीं दे सकता।'

आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक, अमेरिका तथा भारत में उसके बुद्धिजीवी सहयोगी बस यही काम कर रहे हैं, वे भारत के सामने रखे गए प्रश्नों के लिए पश्चिम द्वारा सुझाए गए उत्तरों की नकल करने में लगे हैं। अत: विश्व के पास भारत के लिए कोई आदर्श नहीं है बल्कि भारत विश्व के लिए आदर्श बन गया है। अब मलेशिया और इंडोनेशिया जैसे देश भारत का अनुकरण करते हैं।

□

स्वदेशी की अवधारणा

इस आंदोलन के उत्पत्ति कारक कौन से हैं? इसके पुरोगामी क्या थे?

वे क्या हालात थे (आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक), जिनके कारण इसका गठन हुआ? इसके कौन-कौन से नेता थे और वे किस तरह एकजुट हुए?

स्वदेशी जागरण मंच के नेतृत्व में स्वदेशी अथवा आत्म-निर्भरता आंदोलन का जन्म सन् 1991 की तीसरी तिमाही में उस समय हुआ जब भारतीय अर्थव्यवस्था को सन् 1991 के प्रारंभ में अपने पाँव फैलाते ही विदेशी मुद्रा संकट का सामना करना पड़ा, और यह संकट इतना बढ़ गया कि देश को अपने दिन-प्रतिदिन के आयातों के लिए भुगतान करने और भुगतान संबंधी दायित्वों में चूक से बचने के लिए अपने स्वर्ण भंडार को गिरवी रखना पड़ा। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को बिना सोचे-समझे खोल दिया गया, उस बारे में पहले कोई विचार-विमर्श या चर्चा या तैयारी भी नहीं की गई। इसके अलावा, एक राज्य नियंत्रित योजना से बाजार संचालित व्यवस्था की ओर जाने की भागम-भाग शुरू हो गई। आंतरिक रूप से किसी को कुछ पता नहीं था कि व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में दिन-रात काम करनेवाले लोगों या प्रमुख कारोबारियों में मची इस हलचल का क्या मतलब है। यहाँ तक कि सरकारी पदाधिकारियों को भी इस बारे में कोई ज्ञान नहीं था कि देश ने सन् 1950 से जो दिशा पकड़ी हुई थी, उससे एकदम पलटने का क्या कारण है। आई.एम.एफ. और वर्ल्ड बैंक द्वारा 'वाशिंगटन समझौते' को भारत के लिए एक कार्यसूची के रूप में आगे बढ़ाए जाने से भारतीय व्यवस्था की सोच इस संबंध में पूरी तरह गड़बड़ा गई कि अर्धसमाजवादी भारतीय अर्थव्यवस्था पद्धति से पूर्ण तथा बाजार निर्धारित आर्थिक पद्धति की ओर जाने की संक्रांति को कैसे सँभाला जाए।

इसके अलावा पश्चिम की आर्थिक व्यवहारजन्य पद्धति, अर्थात् एटमीकृत पश्चिमी सामाजिक-आर्थिक विकास द्वारा निर्मित बाजार आधारित अर्थशास्त्र को भारत में चल रही अत्यधिक पारिवारिक और समुदाय उन्मुखी सामाजिक-आर्थिक प्रणाली में खपाना मुश्किल होगा। उदाहरण के लिए भारत में सामाजिक सुरक्षा पूरी तरह एक निजी मामला है, यानी एक सुगठित परिवार और चली आ रही परंपरा ही सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। बड़े-बूढ़ों, कमजोर और बेरोजगार पारिवारिक सदस्यों की देखभाल मुख्यत: संबंधित परिवार और नाते-रिश्तेदारों द्वारा की जाती है। इस जिम्मेवारी को मजबूरी समझकर नहीं, बल्कि एक कर्तव्य मानकर निभाया जाता है, जो धर्म की धारणा से नि:सृत है। लोगों के सामाजिक-आर्थिक व्यवहार में इन विशिष्टताओं को पश्चिम की उदारीकरण संबंधी नीतियों की आँख मूँदकर नकल करते समय ध्यान में नहीं रखा गया था। इन घटकों ने एक ओर समाज और उसकी जीवन-शैली के बीच, और दूसरी ओर राज्य एवं उसकी नीतियों के बीच संबंध काट दिया। इन परिस्थितियों में, एक आंदोलन के जरिए लोगों और शासन-व्यवस्था को जाग्रत् करना तथा जानकारी देना आवश्यक हो गया। इस तरह स्वदेशी जागरण मंच का जन्म हुआ, ताकि लोगों और निर्णय लेनेवालों में सामाजिक-आर्थिक जागरूकता पैदा की जा सके। हालाँकि लोगों में गतिशीलता और आर्थिक सक्रियता दुर्निवार है, लेकिन इसे स्वदेशी जागरण मंच का एक राष्ट्रीय संयोजक देखता है और क्षेत्रीय संयोजक उसकी सहायता करते हैं। एक राष्ट्रीय संचालन समिति है, जो समय-समय पर बैठकें करके, राष्ट्रीय कार्यकारी समिति तथा राष्ट्रीय कार्यकर्ता सम्मेलन में नीतिगत निर्णय करती है। ज्यादातर लोगों से मिलनेवाले चंदे की राशि से इसका खर्च चलता है। सैद्धांतिक रूप से यह दान में बड़ी धनराशि स्वीकार नहीं करता है। यह दूसरे आंदोलनों से अलग है। इसके केंद्र में कोई व्यक्ति नहीं है; बल्कि यह

भिन्न-भिन्न सामाजिक-आर्थिक संगठनों और संस्थाओं का एक गठबंधन है। यह स्थानीय रूप से सक्रिय और राष्ट्रीय स्तर पर नेटवर्क से जुड़ा गठबंधन है, ताकि आर्थिक जागरूकता उत्पन्न की जा सके।

स्वदेशी जागरण मंच की स्थापना किसान संगठनों, मजदूरों, लघु उद्योग संगठनों, आर्थिक विचारकों, शिक्षाशास्त्रियों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के सहयोग से हुई। स्वदेशी जागरण मंच के संस्थापक 70 वर्षीय श्री दत्तोपंत ठेंगेड़ी थे, जो जीवन भर एक सामाजिक कार्यकर्ता रहे।

स्वदेशी जागरण मंच का संगठनात्मक ढाँचा और सामाजिक आधार क्या है? उन्हें धन कहाँ से मिलता है? क्या इसमें नेतृत्व का विधान है या फिर जैसे अनेक नए सामाजिक आंदोलनों (जपतिस्ता, सेम तिएरा, एन.बी.ए. आदि) में देखने में आया, उनकी तरह क्या यह गैर-पदानुक्रमिक, स्थानीय संघटन है?

स्वदेशी जागरण वास्तव में कोई संगठन नहीं है। यह भिन्न-भिन्न संगठनों का एक मंच है। एक निश्चित उद्देश्य को पाने का एक माध्यम है। सत्ता हथियाना या व्यवस्था को ठप करना, इसका उद्देश्य नहीं है। यह सामाजिक-आर्थिक जागरूकता उत्पन्न करनेवाला आंदोलन है। इसका लक्ष्य भिन्न-भिन्न संस्थाओं, संगठनों, राजनीतिक दलों और प्रतिष्ठान के बीच सोच-विचार और कार्य-प्रक्रिया को सक्रिय करना है, जिससे कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा की जा सके और अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के वर्गीय हितों में संतुलन पैदा किया जा सके। स्वदेशी इस अर्थ में वैश्विक चिंतन है कि यह वैश्वीकरण को प्राथमिकता देता है—लोगों को घुमंतु बनानेवाले वैश्वीकरण की अपेक्षा सामाजिक-आर्थिक जीवन को स्थानीय बनानेवाले वैश्वीकरण को।

आवश्यकताओं को सीमित ही रखा जाना चाहिए, शौक या रिवाज नहीं बनाया जाना चाहिए। वर्तमान वैश्वीकरण खानाबदोशी है और यह स्थानीय संबंधों तथा सांप्रदायिक मूल्यों एवं लोगों के व्यवहार में विघ्न डालता है। यह लोगों को अत्यधिक बौना बना देता है और उन्हें एक-दूसरे से अलग कर देता है।

स्वदेशी जागरण मंच का आधार परंपरागत एवं रूढ़िवादी भारतीय समाज है और इसका संबंध किसी वर्गीय अथवा प्रांतीय हित से नहीं है। यह आंदोलन निश्चय ही विदेशी पूँजी का विरोध करता है और स्थानीय तथा लघु उद्योगों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आक्रमण के विरुद्ध है। यही वजह है कि स्वदेशी जागरण मंच ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खिलाफ आंदोलन छेड़ दिया। स्वदेशी जागरण मंच का सबसे अधिक लोकप्रिय आंदोलन एनरॉन कॉरपोरेशन के विरुद्ध था, जब उसने दभोल पावर प्लांट लगाने के सिलसिले में भारत के साथ छल करने की कोशिश की।

स्वदेशी जागरण मंच ने कौन-कौन से प्रमुख आंदोलन किए हैं? क्या वे अल्पावधि या दीर्घावधि में सफल रहे हैं? उस समूह की रणनीति क्या है? हिंसक प्रतिरोध के बारे में उसका क्या रुख है?

स्वदेशी जागरण मंच ने प्रमुख रूप से अंधाधुंध और विचारशून्य वैश्वीकरण के खिलाफ एकजुटता की है। इसके कार्यक्रमों ने विश्व व्यापार संगठन तथा उसके एजेंडा एवं मेल-मुलाकातों को बार-बार निशाना बनाया है। स्वदेशी जागरण मंच के कार्यक्रमों ने उन दूसरे क्षेत्रों में विदेशी निवेश को भी निशाना बनाया है, जहाँ ऐसा निवेश राष्ट्रीय हितों के लिए हानिकर होगा। इसने विश्वव्यापी एवं राष्ट्रीय एकाधिकारों पर धावा बोला है। इसने मछुआरों तथा बीड़ी बनानेवाले मजदूरों जैसे परंपरागत आर्थिक समुदायों के बचाव में भी संघर्ष किया है। स्वदेशी जागरण मंच ने ग्रामीण खेती-बाड़ी और आदिवासी समाजों की रक्षा के लिए भी कार्यक्रमों का आयोजन किया है, जिनका संख्यात्मक और भौगोलिक दृष्टि से भारत के सामाजिक-आर्थिक आधार के तीन-चौथाई से ज्यादा पर अधिकार बनता है और जो वैश्विक एवं शहरी हितों से प्रेरित आर्थिक योजनाओं के फलस्वरूप गरीब से और गरीब होते जा

रहे हैं।

स्वदेशी जागरण मंच के अनेक कार्यक्रम सफल रहे हैं, कुछ को बहुत अधिक सफलता मिली है और कुछ को सामान्य। स्वदेशी जागरण मंच की आवाज देश में जानी-पहचानी आवाज है। इसे जनमत तैयार करनेवाली और आर्थिक विषयों पर बहस करनेवाली आवाज माना जाता है। इसकी रणनीति में सामूहिक आंदोलन छेड़ना तथा शिक्षाप्रद कार्यक्रमों का आयोजन करना शामिल है। विभिन्न सामाजिक-आर्थिक हितों के पक्षधर और सांप्रदायिक एवं शैक्षिक संगठनों के बीच नेटवर्क स्थापित करना तथा गठजोड़ करना भी इन कार्यक्रमों का हिस्सा है। राष्ट्रीय आत्मविश्वास का निर्माण करने की एक युक्ति के रूप में स्वदेशी जागरण मंच तथा उसके सहयोगी संगठनों ने 100 से भी ज्यादा छोटे और बड़े व्यापार मेलों का आयोजन करके स्थानीय अर्थव्यवस्थाओं को विश्व स्तरीय एवं राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति प्रदान की है।

स्वदेशी जागरण मंच किसी तरह के हिंसक प्रतिरोध में विश्वास नहीं करता। यहाँ तक कि स्वदेशी जागरण मंच के शत्रु भी इस बात की प्रशंसा करेंगे कि स्वदेशी जागरण मंच एक शांतिपूर्ण संगठन है और विरोध-प्रदर्शन के लिए वह केवल शांतिपूर्ण उपायों को ही अपनाता है।

इसके बौद्धिक स्रोत क्या-क्या हैं, अर्थात् स्वदेशी जागरण मंच जिन विचारों का समर्थन करता है, वे कहाँ से आते हैं? यह जो विरोध करता है, उसकी समीक्षा कैसे होती है और यह किस विकल्प को आगे बढ़ाने की बात करता है?

स्वदेशी जागरण मंच के विचार लोगों की सामाजिक-आर्थिक परंपराओं और जीवन-शैली पर आधारित हैं। यह लोगों के लक्ष्यों और विश्वासों को उनकी जीवन-शैली से जोड़कर देखता है। लोगों की जीवन-शैली उनकी आदतों को तय करती है, आदतें आवश्यकताओं को तय करती हैं, आवश्यकताएँ अपेक्षित वस्तुओं और सेवाओं को निर्धारित करती हैं, उससे उत्पादन संबंधी प्रौद्योगिकी निर्धारित हो जाती है और उसके फलस्वरूप रोजगार तथा खपत की बानगी निश्चित हो जाती है। वास्तव में, भारतीय जीवन-शैली पारिवारिक मूल्यों और बचत से प्रेरित है, न कि खपत से। बहुत से परिवारों में ज्यादा खपत को पारिवारिक मूल्यों एवं संबंधों को नष्ट करनेवाली बुराई माना जाता है। बहुत अधिक खर्चीली प्रवृत्ति और उच्च खपत के विरुद्ध एक सामान्य सामाजिक वातावरण इस देश में है। इस कारण से भारतीय समाज उपभोक्तावादी नहीं है। यह उन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का निष्कर्ष है, जो भारत में आई हैं। सामान्यत: एशियाई देशों की अर्थव्यवस्था की यही विशेषता है। जबकि पश्चिम में स्थिति बिलकुल विपरीत है, वहाँ उपभोग और उधार पर अधिक जोर रहता है। एशियाई मूल्य और आदर्श बचत एवं संयमशील उपभोग या खपत को बढ़ावा देते हैं। विश्व स्तर पर विशिष्ट रूप से समष्टिवादी-आर्थिक प्रणाली, उपभोक्तावाद और उधार आश्रित पश्चिमी समाजों और संयमशील एवं बचत-उन्मुख पूर्वी समाजों की जीवन-शैली की भिन्नता साफ नजर आती है।

स्वदेशी जागरण मंच मूलत: पश्चिमी प्रणाली के विरुद्ध है, जो समुदायों और परिवारों को बहुत ही छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट देती है। यह खपत को बढ़ावा देती है तथा बचत में कमी करती है। जिसके फलस्वरूप लोग सरकार पर अधिक निर्भर रहने लगते हैं, और वही उनके लिए सामाजिक सुरक्षा होती है। जबकि स्वदेशी जागरण मंच भारतीय जीवन-पद्धति को सरकार के लिए सबसे कम बोझिल और सरकार पर कम-से-कम निर्भर रहनेवाली पद्धति मानता है। स्वदेशी जागरण मंच के अनुसार यह विश्व में सर्वाधिक निजीकृत आर्थिक पद्धति है।

क्या स्वदेशी जागरण मंच स्वयं को वैश्वीकरण के नव्य-उदार एजेंडा और उनके विविध रूपों के विरुद्ध नए विश्वव्यापी सामाजिक आंदोलनों का हिस्सा मानता है? क्या उसे भारत और विश्व के आस-पास ऐसे अन्य गुटों के

संघर्ष की जानकारी है, और क्या वह दूसरे ऐसे गुटों के प्रति बंधुत्व की भावना रखता है? यह आंदोलन किस तरह इन उभरते आंदोलनों के समान या उनसे अलग है?

हालाँकि स्वदेशी जागरण मंच विश्व के भिन्न-भिन्न देशों में विरोध-प्रदर्शन और आंदोलन के तरीकों के कुछ पहलुओं को साझा मानता है, फिर भी स्वदेशी जागरण मंच का वैश्विक दृष्टिकोण जीवन के व्यापक दृष्टिकोण पर आधारित है, जिसमें यह तथ्य भी शामिल है कि व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत अधिकारों को दैवी संस्था रूपी परिवार और समाज के हित में संतुलन में रखना चाहिए। यह विचार धर्म की पारंपरिक धारणा, हिंदू और बौद्ध समाजों में अपनाई गई एक अद्वितीय जीवन पद्धति से उत्पन्न हुआ है। इसलिए विश्व के अलग-अलग भागों में विश्व व्यापार संगठन-विरोधी और वैश्वीकरण-विरोधी आंदोलनों के बीच विरोध-प्रदर्शन संबंधी कुछ बातों में यद्यपि समानता हो सकती है, फिर भी जरूरी नहीं है कि स्वदेशी जागरण मंच और अन्य आंदोलनों के वैचारिक सिद्धांत भी एक जैसे हों।

स्वदेशी जागरण मंच के प्रमुख आलोचक कौन हैं और उनके बारे में इसकी प्रतिक्रिया क्या रहती है?

स्वदेशी जागरण मंच को वैश्वीकरण-विरोधी और निरंकुश बताना गलत है। वैश्वीकरण के बारे में हमारा दृष्टिकोण भिन्न है, शूमाकर के विचार 'स्माल इज ब्यूटीफुल (छोटा है, तो सुंदर है)' से मिलता-जुलता। वैश्वीकरण के बारे में हमारी दलील को वैश्वीकरण-विरोधी कहकर गलत ढंग से पेश किया जाता है। आज वैश्वीकरण के समर्थकों ने इसे विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) के अनुरूप आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। वैश्वीकरण के बारे में हमारा दृष्टिकोण एक सजातीय जीवन-शैली या व्यवहार-पद्धति का निर्माण करना नहीं है। वर्तमान वैश्वीकरण के लिए हमारा विकल्प है कि संस्कृतियों, जीते-जागते आदर्शों और उन विशिष्ट मूल्यों की अद्वितीयता एवं पवित्रता को मान्यता दी जाए, जो विश्व की विभिन्नता को मूर्त रूप देते हैं। वैश्वीकरण के संबंध में हमारी धारणा विभिन्नता में एकता को देखना है, न कि एकरूपता से एकता का प्रयास करना। दुर्भाग्यवश, इसे अपने ही देश में वैश्वीकरण के विरुद्ध होना कहकर इसकी आलोचना की जाती है।

हम इस विषय पर बहस चाहते हैं कि ऐसी आदर्श सार्वत्रिक अर्थव्यवस्था क्या हो सकती है, जिसे बनाए रखा जा सके। वर्तमान वैश्वीकरण के समर्थक विश्व और विभिन्न समाजों के लोगों के दीर्घकालीन हितों की अपेक्षा मुट्ठी भर लोगों के व्यापारिक हितों को ही आगे बढ़ा रहे हैं।

चूँकि उनके पास प्रमाण और संसाधनों की कोई कमी नहीं है, इसलिए वे अपने विचारों को हमारी छवि पर थोप सकते हैं। हम बिना बराबरी के जिस संघर्ष में उलझे हुए हैं, उसका यह दुर्भाग्यपूर्ण हिस्सा है। इसी कारण हमें आधुनिकीकरण-विरोधी, विकास-विरोधी, निरंकुश और वैश्वीकरण-विरोधी कहा जाता है। इन सब विशेषणों का एक ही मतलब है कि हम संपूर्ण विश्व के प्रति वर्तमान यूरोप-अमेरिका केंद्रस्थ दृष्टिकोण के विरुद्ध हैं। इसके लिए विश्व को और अधिक गहराई से समझने की जरूरत है, मात्र एक सरसरी दृष्टि से देखने की नहीं। हम एक जटिल विश्व को इतना सरल नहीं बना सकते कि उसे पूरी तरह पाश्चात्य अनुभव पर आधारित एक आदर्श में समेटा जा सके। हमें अपने लोगों और विश्व को समझाने और उन्हें विश्वास दिलाने के लिए अभी एक लंबा सफर तय करना है, लेकिन हमें भरोसा है। हम ऐसा मानते हैं कि वर्तमान वस्तुतः धन-प्रेरित, बचत-सोखी, उपभोग-उन्मुखी जीवन-शैली को लंबे समय तक बनाए रखना संभव नहीं है। विश्व इस बात को मानेगा या उसे मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि इसका एक विकल्प अनिवार्य है।

□

समय भारत के सूर्योदय काह्लष् ऽसमय भारत के सूर्योदय काऽ

वास्तव में आज हम सभी इस विचार से पूरी तरह सहमत लगते हैं कि

अब भारत के सूर्योदय का समय आ गया है। लेकिन हो सकता है, मेरे विचार में वह स्थिति आ पहुँची है, जब हम कह सकते हैं कि भारत के सूर्योदय का समय आ गया है। भारत के सूर्योदय का समय आ चुका है, यह वस्तुत: सदा एक तथ्य रहा है। यदि आप देखें कि बीसवीं सदी के आरंभ में श्री अरविंद ने क्या लिखा, तब आप समझ जाएँगे कि इस सच्चाई को तो उन्होंने बहुत पहले प्रकाश में ला दिया था, उस समय जब हर किसी को आकाश पर अंधकार के सिवा कुछ नजर नहीं आता था। लेकिन हम भारतवासियों को ही यह समझने में एक सदी और लग गई कि भारत के सूर्योदय का समय आ गया है। अत: मैं यह परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ कि भारतीय नेतृत्व का अभिजात वर्ग ही वह सबसे बड़ी बाधा थी, जिसके कारण भारत अपनी क्षमता और अपने उत्कर्ष के समय को पहचान नहीं पाया।

यह समझने का प्रयास करते हुए कि क्या भारत ने अपनी पूरी क्षमता प्राप्त कर ली है, तो हम सकल घरेलू उत्पाद पर नजर डालते हैं, प्रति व्यक्ति आय को देखते हैं और समष्टिवादी-आर्थिक मूल-सिद्धांतों, मुद्रास्फीति को देखते हैं। आज के युग में इन्हीं सब मानदंडों पर किसी देश का मूल्यांकन किया जाता है। विश्व यह मूल्यांकन करता है और हम यह नहीं कह सकते कि उस ढंग से हमें न आँका जाए। भौतिकवाद और आर्थिक प्रगति की जबरदस्त भावना से प्रेरित किसी क्षेत्र में, विश्व उस देश के लिए कुछ बातों को महत्त्वपूर्ण मानता है। उसी अर्थ में, विश्व द्वारा भारत का मूल्यांकन उन्हीं मानदंडों पर किया जाएगा, जिनको कसौटी मानकर हम भारत का मूल्यांकन कर रहे हैं। यह उचित भी है। फिर भी यह वह आधार नहीं है, जिस पर भारत को हमें आँकना चाहिए, बल्कि यह तो वह संदर्भ है, जिस संदर्भ में हमें भारत का मूल्यांकन करना चाहिए। क्या भारत के उत्कर्ष का समय आ गया है, इसका निर्धारण अर्थव्यवस्था के उन मूलभूत सिद्धांतों की दृष्टि से नहीं किया जाना चाहिए, जिनके आधार पर हम कह रहे हैं कि भारत पूरी क्षमता के साथ तैयार है, बल्कि यह निर्धारण आर्थिक क्षेत्र में भारत के शानदार कार्य-प्रदर्शन के संदर्भ में किया जाना चाहिए। इन दोनों परिप्रेक्ष्यों के मध्य बहुत अधिक अंतर है।

यह कहने के लिए कि आर्थिक मूल सिद्धांतों, प्रौद्योगिकी संबंधी मूल सिद्धांतों, जिन्हें विश्व महत्त्वपूर्ण मानता है, उन मानदंडों के आधार पर भारत का समय आ गया है। आपको समाचार-पत्रों में झाँकना होगा। उदाहरण के लिए, जुलाई में लगातार तीन दिनों तक अखबारों में छपी इन रिपोर्टों को देखें—

27 जुलाई—फाइनेंशियल एक्सप्रेस

भारत शिखर के दस औषधि उत्पादन केंद्रों की सूची में शामिल होने जा रहा है। अमेरिका में एफ.डी.ए. ने भारत में 60 उत्पादन केंद्रों को मंजूरी दे दी है। भारतीय औषधि निर्माता पश्चिम की सामान्य औषधि उत्पादक कंपनियों के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गए हैं। फिलहाल सामान्य औषधियों में उनकी बाजार क्षमता विश्व बाजार की 20 प्रतिशत है। यह एक बहुत ही मामूली खबर है।

28 जुलाई, इंटरनेशनल बिजनेसवीक ऑनलाइन

भारत की भूमिका प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में लगातार बढ़ती जा रही है।

29 जुलाई, विभिन्न समाचार

भारत विश्वव्यापी बैंडविड्थ व्यवसाय में प्रमुख होगा, पानी के अंदर केबिल बिछाने के व्यवसाय का स्वामित्व ए.टी. ऐंड टी., एम.सी.आई. और स्प्रिंट से अब बी.एस.एन.एल., रिलायंस, भारती और वी.एस.एन.एल. के हाथों में आ रहा है, बी.एस.एन.एल. का स्वामित्व एशिया और ऑस्ट्रेलिया को अमेरिकी क्षमता के एक-तिहाई के बराबर, उस क्षेत्र में दूसरे प्रमुख केबिल मालिकों की संयुक्त क्षमता से दोगुना। बी.एस.एन.एल. द्वारा टेलीग्लोब का अधिग्रहण उसके 1400 थोक ग्राहकों, 13 बिलियन मिनट के वॉयस ट्रैफिक सहित।

साधारण खबरें। भारत विश्व में सबसे बड़े ऑपरेटर की क्षमता से बढ़कर विश्वव्यापी क्षमता अर्जित कर रहा है, रोजमर्रा की खबर बन गई है। उसी दिन भारत में जापान के राजदूत का कहना है कि भारत विश्व की आई.टी. उत्पादन राजधानी बनने जा रहा है। सामान्य खबर। यही वह संदर्भ है, जिसमें हम आज भारत का मूल्यांकन कर रहे हैं, भारत को देख रहे हैं, महसूस कर रहे हैं और समझ रहे हैं। लेकिन भारत को इस सबके माध्यम से नहीं समझ रहे हैं। हम भारत को इस संदर्भ में समझने, पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं और भारत को पेश करने का प्रयास कर रहे हैं।

बड़ी हैरान कर देनेवाली बात है कि भारत जिस तेजी से विकास कर रहा है, उसका हम भारतीयों को पूरा ज्ञान नहीं है। भारत में वस्त्र उद्योग जितनी क्षमता भारतीय व्यवसाय के किसी दूसरे क्षेत्र में नहीं है। विश्व का आज यही कहना है। सन् 1950 में हमारा कपास का उत्पादन 88 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर था, सन् 2000 में यह 305 किलोग्राम था। सन् 2010 तक कपड़ा निर्यात का लक्ष्य 50 बिलियन डॉलर रखा गया है, जिसमें से आधा बने-बनाए कपड़ों का होगा। यह जबरदस्त वृद्धि है। इस उद्योग में पहले से ही रोजी-रोटी कमा रहे दो करोड़ लोगों के अलावा 1 करोड़ 20 लाख नए लोगों को रोजगार मिलने की संभावना है। पिछले पाँच वर्ष में ही कपड़ा उद्योग में 50,000 करोड़ रुपए का निवेश हुआ है। केवल नौ कंपनियों ने 2,600 करोड़ रुपए का निवेश किया है और अगले दो वर्ष में 6,400 करोड़ रुपए का निवेश करने का वचन दिया है। हमारे पास विश्व की 25 प्रतिशत कताई क्षमता है और विश्व की 33 प्रतिशत बुनाई क्षमता है। हालाँकि भारत आई.टी. के क्षेत्र में टेक्नोलॉजी के अनन्वेषित क्षेत्र में प्रौद्योगिकी संबंधी विषय में आगे बढ़ रहा है। यह एक विशाल 100 प्रतिशत भारतीय मूल्ययुक्त उद्योग का भी निर्माण कर रहा है, जिसमें ऑस्ट्रेलिया की कुल जनसंख्या से तीन गुणा लोगों को रोजगार देने की क्षमता है।

राष्ट्रीय आसूचना परिषद् की सन् 2020 की रिपोर्ट विश्व स्थिति को 'हेलिकोप्टरी परिप्रेक्ष्य' से देखती है। एक समय था जब भारत के लोगों को एक भार, एक समस्या समझा जाता था। मैं सन् 1993 में अमेरिका में जीरोक्स कॉरपोरेशन के 40 अधिकारियों को संबोधित कर रहा था। मैंने उन कठिनाइयों को स्पष्ट किया, जिनका सामना किसी प्राचीन सभ्यता को विश्वव्यापी के संदर्भ में करना पड़ा। मैंने अपने उस विशाल, अथाह, अलिखित ज्ञान का जिक्र किया, जो 5,000 वर्ष से ज्यादा के स्मरणीय अनुभव पर आधारित था। मैंने जोर देकर कहा कि जिस सभ्यता के अस्तित्व का 150 से 200 वर्ष का लिखित इतिहास हो, वह हमारी तुलना में बहुत फायदे में रहेगी ही। लेकिन मैंने कहा, वह बहुत पक्षपातपूर्ण शासन था। एक अरब लोगों के लिए ज्ञान के लिखित इतिहास को बनाए रखना असंभव था।

एक घमंडी कार्यकारी-अधिकारी उठा और मुझसे बोला, 'जब भी भारतीय अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण की बात

आती है, आप उसके बचाव में संख्या का सहारा लेते हैं।' संयोग से उस समय मेरे पास यू.एस. एयर पत्रिका की एक प्रति थी, जिसमें छपे एक लेख में बताया गया था कि किस तरह 140 मिलियन जन्मजात अमेरिकियों (मूल निवासियों) को औपनिवेशिक विस्तार द्वारा नष्ट कर दिया गया था। सन् 1500 में, उत्तरी अमेरिका और मेक्सिको दोनों की जनसंख्या मिलाकर भारत, पाकिस्तान और बँगलादेश की कुल जनसंख्या से अधिक थी। अत: मैंने उससे कहा कि यदि आपने अमेरिका के मूल निवासियों को जीवित रहने दिया होता, तो आपके देश की जनसंख्या हमारी जनसंख्या से कहीं अधिक होती। दुर्भाग्यवश, अमेरिकियों के लिए यह ऐसे अपराध-भाव का विषय था कि उनमें से अधिकतर ने उस दिन दोपहर का भोजन नहीं किया।

भारत को प्रस्तुत किए गए आर्थिक सिद्धांतों ने हमें यह अहसास कराया कि भारत की समस्याएँ भारतीय लोग स्वयं हैं। देहाती बढ़ई, मिस्त्री, किसान, नलकार, सब समस्या हैं। हमारे पास जनसंख्या तो बहुत है, लेकिन गुणवत्ता नहीं है। भारतीय बुद्धिजीवी, अर्थशास्त्री, राजनीतिक नेतागण, विदेशी लोग 40 वर्ष से भारत को यही उपदेश देते आ रहे हैं कि भारत की समस्या भारत के लोग हैं। लेकिन आज भारत में सबसे बड़ा लाभ भारत के लोगों में ही देखा जा रहा है।

भावी विश्व का नक्शा बनाएँ तो सांख्यिकीय के अनुसार विश्व के एक सौ निवासियों में से 56 लोग एशिया से होंगे। इनमें से 19 चीन से और 17 भारत से होंगे। जीत के लिए यह फायदेमंद हो सकता है। 16 अफ्रीका से, 7 नवीन यूरोप से, 5 प्राचीन यूरोप से होंगे। वस्तुत: प्राचीन यूरोप में बहुत से देश 50 वर्ष के बाद नहीं रहेंगे। जनगणना के हिसाब से उनकी संख्या इतनी कम हो जाएगी कि एक समाज के रूप में उनका अस्तित्व ही मिट जाएगा। और यू.ए.ई. से केवल चार। देखिए, भारत कितने फायदे में है। क्रय-शक्ति समानता के हिसाब से भारत चौथी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। क्रय-शक्ति समानता राष्ट्र की वास्तविक दौलत होती है। क्रय शक्ति समानता को देखें तो सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) 3.36 लाख करोड़ (ट्रिलियन) है। लेकिन यदि इसे मौद्रिक अर्थ में लें तो यह 691 बिलियन हो जाती है। क्रय-शक्ति समानता के अनुसार जी.डी.पी. पाँच गुना है, जी.डी.पी. के मौद्रिक मूल्य से अधिक। विश्व अर्थव्यवस्था में भारतीय रुपए को इतना ही अधोमूल्यित किया गया है।

हाल के बजट की निष्कर्ष रिपोर्ट में एक टेक्नोलॉजी खंड है, एक शैक्षिक खंड है, एक अनुसंधान एवं विकास खंड और एक ब्रांड इंडिया खंड है। इसके अनुसार, भारत निकट भविष्य में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का अगला प्रबल दावेदार होगा। अगले दस वर्षों में विकास एवं प्रौद्योगिकी उस देश में अपना प्राचीन गौरव पुन: प्राप्त कर लेगी, जिस देश ने 'शून्य' की संकल्पना का आविष्कार किया। सी.एल.एस.ए. द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार, भारत में काम कर रही बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा अनुसंधान एवं विकास के 100 से अधिक केंद्र स्थापित किया जाना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि भारत अपना पिछला गौरवशाली स्थान पुन: हासिल कर लेगा।

पांडिचेरी विश्वविद्यालय के दो प्रोफेसरों द्वारा किए अध्ययन ने भारत में संवृद्धि और विदेशी निवेश के बीच संबंध के रहस्य को पूरी तरह खोलकर रख दिया है। उनके पास वे सभी मॉडल हैं, जिन्हें अर्थशास्त्री स्वीकार करता है। उनका निष्कर्ष है कि भारत में विदेशी निवेश का भारत में विकास से कोई संबंध नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमने विदेशी निवेश के बिना विकास किया है।

किसी भी देश का अपने बल पर, अपनी पूँजी लगाकर, अपने ही बाजार की मजबूती के आधार पर विकास करना महत्त्वपूर्ण है। विश्व व्यापार संचालित अर्थव्यवस्था आज अतिसंकलित है। भारत में घरेलू बाजार का विशाल स्तर पर विकास हो रहा है। सच तो यह है कि किसी भी देश को विदेशी निवेश के सहारे नहीं चलना चाहिए। जिस

देश ने भी विदेशी व्यापार के जरिए देश को विकसित करने के लिए भीड़-भाड़वाला रास्ता अपनाया, उसकी लुटिया डूबने में ज्यादा समय नहीं लगा। ऐसे विकास की गति बहुत तेज होती है, बाढ़ के पानी की तरह। और यह वापस भी उसी रास्ते से जाता है। लातिन अमेरिकी देशों, मेक्सिको के साथ यही तो हुआ। कुछ यूरोपीय देशों के साथ भी ऐसा ही हुआ। सन् 1997-98 में एशियाई देशों को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा और उन्होंने अपने विकास की नीतियों को परिवर्तित करना शुरू कर दिया, ताकि उनका विकास निर्यात की अपेक्षा घरेलू खपत पर ज्यादा आधारित हो। भारत को इस बारे में भी अभी तक अपना विचार स्पष्ट करना है कि बाहरी क्षेत्र पर मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक निर्भरता का अनुपात क्या होना चाहिए। हमें पिछले 15 वर्षों से दिया जा रहा नुस्खा स्वीकार नहीं करना चाहिए और इस स्थिति का फिर से जायजा लेना होगा।

रिपोर्ट में आगे भारत की बौद्धिक क्षमता का ब्योरा दिया गया है। 200 राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के अतिरिक्त, उत्पादन क्षेत्र में 1300 प्रयोगशालाएँ हैं। सन् 2015 तक, भारत में हर वर्ष 2 करोड़ विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करके निकलेंगे। हर वर्ष 14 लाख इंजीनियर, 60,000 डॉक्टर बनेंगे और 50,000 पी-एच.डी. पूरी कर चुके होंगे। इस समय भारत में 250 विश्वविद्यालय, 1,500 अनुसंधान संस्थान और 10,000 उच्च शिक्षा संस्थान हैं, जिनमें हर वर्ष 1 करोड़ छात्र दाखिल होते हैं। हर वर्ष पचास लाख विद्यार्थी रोजगार में जुड़ जाते हैं। चीन में हर वर्ष 12 लाख छात्र ग्रेजुएट (स्नातक) हो जाते हैं। इतनी विशाल बौद्धिक क्षमता विश्व को जीत सकती है, अधिकांश विश्व को। बंबई स्टॉक एक्सचेंज (बी.एस.ई.) में सूचीबद्ध 500 कंपनियों का अनुसंधान एवं विकास संबंधी व्यय 600 प्रतिशत बढ़ गया है। अत: मानसिक सोच में परिवर्तन हो रहा है। एन्हॉल्ट जीएमआई नेशनल ब्रांड इंडेक्स द्वारा ब्रांड इंडिया सर्वेक्षण के अनुसार, ब्रांड चायना के मुकाबले ब्रांड इंडिया अधिक तेजी से ऊपर उठ रहा है। उसके लिए वे दो मुख्य कारणों का हवाला देते हैं—उपभोक्ता की पसंद-नापसंद एवं उसका प्रत्यक्ष ज्ञान और भारत की सांस्कृतिक विरासत तथा उच्च तकनीकी कौशल।

20 वर्ष पहले इस तरह के विषय के बारे में सोचना भी असंभव होता, 10 वर्ष पहले समय-पूर्व होता, इसलिए नहीं कि भारत उस योग्य नहीं हुआ था, बल्कि इसलिए, क्योंकि हम इस विषय के लिए तैयार नहीं थे। 2 सितंबर, 2005 को, यूनिवर्सिटी ग्लोबल ऑनलाइन ने कहा, 'जैसे-जैसे भारत की आर्थिक क्षमता बढ़ रही है, वैसे-वैसे भारत के उद्यमकर्ता विदेशों में कंपनियों का अधिग्रहण करते जा रहे हैं। सन् 2005 के पहले आठ महीनों में भारतीय कंपनियों ने 62 विदेशी व्यवसायों को हस्तगत करने के लिए 1.7 बिलियन डॉलर चुकाए; इनमें एक जर्मन भट्ठी, दक्षिण कोरियाई ट्रक निर्माता कंपनी और ब्रिटिश चाय कंपनी शामिल है।' यह सच्चाई है। जो देश ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन रह चुका हो और तब के इतिहास को भुला न पाया हो, उसे देखते हुए भारत का विश्व स्वामी के रूप में उभरना बिलकुल उलटी सी बात लगती है। इसी संदर्भ में भारत आत्मविश्वास प्राप्त कर रहा है।

और यह सब क्यों हो रहा है? क्या इसलिए कि हमारे यहाँ विश्वविद्यालय हैं या इसलिए कि हमारे छात्र स्नातक और इंजीनियर बन रहे हैं? एक विश्वव्यापी व्यवसाय मॉनीटर, रोटर्टम यूनिवर्सिटी द्वारा किए गए अध्ययन से एक और मूलभूत भारतीय विशेषता प्रकाश में आई है। इस अध्ययन से पता चलता है कि फॉर्चून 500 कंपनियों की रोजगार में हिस्सेदारी सन् 1970 में 20 प्रतिशत से घटकर सन् 1996 में 8.5 प्रतिशत रह गई है। फिर इसमें भारत की कुल जनसंख्या 1049 मिलियन की चर्चा है। 18-64 के आयु वर्ग में—598 मिलियन, कुल व्यावसायिक कार्य —107 मिलियन।

हम सब्जी विक्रेता को सब्जी विक्रेता के रूप में ही देखते हैं। वास्तव में, सब्जी बेचनेवाली महिला एक उद्यमी

है। हमारे कुछ अर्थशास्त्री कहते हैं कि वह बहुत ज्यादा ब्याज चुकाती है। वह सुबह 99 रुपए उधार लेती है और शाम को 100 रुपए लौटाती है। इस तरह वह 100 रुपए पर एक रुपया दैनिक ब्याज चुकाती है। एक वर्ष में वह इस प्रकार 100 रुपए पर 365 रुपए ब्याज के रूप में देती है। यह एक सैद्धांतिक लेखाकार का आर्थिक हिसाब है। वह वास्तव में एक उद्यमकर्ता या कहें कि व्यवसाय करनेवाली महिला है। यह बात भारतीयों से ज्यादा विदेशियों ने अच्छी तरह समझी है। अत: हमारे देश में 107 मिलियन उद्यमकर्ता हैं। चीन में इनकी संख्या 99 मिलियन और अमेरिका में उससे बहुत कम, क्योंकि वहाँ की जनसंख्या भी कम है। हमारे यहाँ चलाए गए 85 मिलियन (8.5 करोड़) का व्यवसाय हैं, और 18 से 64 वर्ष तक के आयु वर्ग में 17.9 प्रतिशत लोग उद्यमकर्ता हैं। भारत में संगठित क्षेत्र में रोजगार कुल रोजगार का केवल 7 प्रतिशत है। इस देश में सबको रोजगार नहीं दिया जा सकता, लेकिन अपना रोजगार सब कर सकते हैं।

क्या किसी ने भारत में इस सामाजिक पूँजी की नाप-तौल की है। आप इसे उत्पन्न नहीं कर सकते। आप इसे नष्ट कर सकते हैं। मिसाल के तौर पर, रूस में साम्यवाद ने यही किया। उन्होंने स्वतंत्र व्यवसाय करनेवाले सभी लोगों को मिटा डाला। सारी अर्थव्यवस्था नष्ट कर दी गई। पूँजीवाद और साम्यवाद एक जैसा काम करते हैं। पूँजीवाद यह काम बाजार के जरिए करता है और साम्यवाद राज्य के माध्यम से। दोनों मालिक और मुलाजिम (नियोक्ता और कर्मचारी) पैदा करते हैं, क्योंकि उनकी उत्तरजीविता, अर्थात् उनके बने रहने के लिए यह आवश्यक है। साम्यवादी कर्मचारियों के बिना नहीं रह सकते और पूँजीवादी नियोक्ताओं के बिना। लोग जब स्व-नियोजित हों, तो दोनों को मुश्किल होती है। जबकि परिवार-संचालित अर्थव्यवस्था का आदर्श यही है कि यह अधिकतर स्व-रोजगार पर आधारित है।

भारतीय अर्थव्यवस्था स्व-रोजगार संचालित अर्थव्यवस्था है, यह इसकी एक विशेषता है और इसी कारण इस देश में बहुत ऊँचे स्तर की उद्यम संबंधी गतिविधि नजर आती है, जिसके फलस्वरूप हर वर्ष 33 मिलियन (3 करोड़ 30 लाख) काम-धंधे उत्पन्न होते हैं। भारत में कोई भी समाचार-पत्र इसे स्वीकार नहीं करता। भारत की कोई भी शोध संस्था इसे पेश नहीं करेगी। ज्ञात भारत को चलाने में किसी अज्ञात भारत का हाथ है, और यह अज्ञात भारत एक परंपरागत भारत है, जो आधुनिक भारत को सँभाल सकता है।

इस सारी प्रक्रिया में सन् 1990 के दशकवाली विदेश आश्रित मानसिकता से एक भारत-केंद्रस्थ मानसिकता की ओर जाने की भारी प्रवृत्ति देखने में आई है। इसका कारण यह नहीं है कि कुछ भारतीयों को यह समझ आई या उन्हें ऐसा करने की सूझी बल्कि ऐसा इस वजह से हुआ है, क्योंकि अमेरिकी खुफिया विभाग ने कोई रिपोर्ट दी या मेकिंसीज ने कोई रिपोर्ट दी या पी.डब्ल्यू.सी. ने कोई रिपोर्ट पेश की, जिसमें कहा गया कि 'भारत आ गया है।' जब वे कहते हैं कि भारत आ गया है, हमें स्वीकार कर लेना चाहिए कि भारत आ पहुँचा है, अर्थात् भारत समर्थ हो गया है।

इस परिवर्तन का कारण आर्थिक नहीं है, यह परा-आर्थिक है। वास्तव में आर्थिक विकास परा-आर्थिक चालन शक्ति पर आधारित होता है, ठीक उसी तरह, जैसे आर्थिक गिरावट के लिए परा-आर्थिक चालन शक्ति को जिम्मेवार समझा जाता है।

भारत में सन् 1998 का पोखरण विस्फोट और सन् 2001 में अमेरिका पर आतंकी हमला ऐसी ही दो परा-आर्थिक घटनाएँ थीं। जब भारत ने परमाणु विस्फोट किया तो सारा देश और पूरा विश्व स्तब्ध रह गया। किसी ने नहीं सोचा था कि भारत कभी ऐसा करेगा। भारत ने एक 'नया भारत' घोषित कर दिया। उसने कहा, 'भारत को

सिर्फ अशोक और गांधी की दृष्टि से न देखें, एक दूसरा भारत आपके सामने है।' और जब भारत ने यह घोषणा की, तो सारी दुनिया ने भारत को चारों ओर से घेर लिया। हर किसी ने भारत पर प्रतिबंधों की घोषणा कर डाली, आर्थिक प्रतिबंध, प्रौद्योगिकीय प्रतिबंध—सिवाय इसके कि हमारी तुलना सद्दाम हुसैन से नहीं की गई। उसे छोड़कर प्रत्येक देश ने भारत को नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। सारा विश्व देख रहा था कि भारत किस तरह जवाब देता है। भारत की भावना को जगा दिया गया था। सरकार ने अनिवासी भारतीयों से भारत विकास बंधपत्रों में पाँच बिलियन डॉलर का अंशदान करने की अपील की। उन्होंने हमें आठ बिलियन डॉलर दिए।

विश्व हैरान रह गया, क्योंकि विश्व में सबसे शक्तिशाली देश ने उस देश के खिलाफ हर प्रकार के प्रतिबंधों की घोषणा सिर्फ इस कारण से की थी, क्योंकि उसने ऐसे विकल्प का प्रयोग किया, जो उसके पास हमेशा था। भारत ने परमाणु विस्फोट न करने के किसी अंतरराष्ट्रीय करार पर दस्तखत नहीं किए थे। उसने भारी राजनीतिक कीमत चुकाकर भी इस विकल्प को बचाकर रखा था। यद्यपि हमारी नीतियाँ परमाणु अस्त्र विस्तार के विरुद्ध थीं, फिर भी हमने निरस्त्रीकरण संधि स्वीकार नहीं की थी। हमने उसी विकल्प का प्रयोग किया।

इन सभी ताकतों ने परमाणु अस्त्रों का विकास कर लिया था और फिर कह दिया कि सन् 1966 के बाद किसी को भी परमाणु हथियार नहीं बनाने चाहिए। ये कपटी राष्ट्र थे, जिन्होंने दूसरों के लिए तो नियम बनाए, लेकिन स्वयं ने उन नियमों का पालन नहीं किया। वे भारत पर नजर रखे हुए थे। जब भारत अपने निश्चय पर अड़ा रहा, तो उन्हें ऐसे भारत को स्वीकार करना ही पड़ा। अंतत: उन्होंने प्रतिबंध हटा दिए।

भारतीय विज्ञापन जगत् की एक जानी-मानी हस्ती सुश्री तारा सिन्हा ने सन् 2001 में किसी समय 'इकोनॉमिक टाइम्स' में एक लेख लिखा था। उन्होंने लिखा कि वह जब भी बाहर के देशों में गईं, वह कभी भी होटलों में नहीं ठहरीं, बल्कि अपने मित्रों के घर रहीं। उन्होंने भारतीय लोगों को विदेशियों के सामने भारत को गाली देते हुए सुना —'भारत एक गंदा, तीसरे दर्जे का, भ्रष्ट देश है।' कल्पना कीजिए, क्या स्थिति होगी जब दो करोड़ भारतीय लोग भारत के खिलाफ ऐसा प्रचार कर रहे हों और केवल 150 भारतीय विदेश सेवा अधिकारी भारत की रक्षा करने का प्रयत्न कर रहे हों! भारत को 40 वर्षों तक इस तरह का सामूहिक अपमान, तिरस्कार सहना पड़ा। तारा सिन्हा कहती हैं कि भारत के खिलाफ यह भद्दा प्रचार एक ही दिन में रुक गया, जिस दिन भारत ने पोखरण में परमाणु बम का विस्फोट किया।

भारत-भावना जाग उठी थी। कोई भी संगठन सिर्फ धन या बाजार में अवसर या ठोस सांख्यिकीय आँकड़ों से प्रेरित नहीं होता। उसे आगे बढ़ाने में वस्तुत: उस संगठन की भावना का सबसे बड़ा हाथ होता है। भारत-भावना के जागते ही भारतीय अर्थव्यवस्था हरकत में आ गई। विश्व ने भारत में निवेश करना, भारत को समर्थन देना शुरू कर दिया और भारत की इस भावना को आदर से देखा जाने लगा कि भारत किस तरह एक सिद्धांत को लेकर विश्व के सामने डटा रहा। भारत बुरा नहीं था। उसने किसी दूसरे देश पर कब्जा करने के लिए कभी एक सिपाही भी नहीं भेजा था। उसका हिंसा का कोई इतिहास नहीं था। विश्व ने भारत को समझना-जानना शुरू कर दिया। और एक परा-आर्थिक, आर्थिकेतर घटना ने भारत के निर्माण की नींव रख दी। उसी समय से भारत का उठान शुरू हो गया। लोग कहने लगे कि प्रतिबंधों के बावजूद भारत के विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास और भी तेजी से होगा। उच्च अधिकारियों ने कहा, ''हमें विदेशी टेक्नोलॉजी की जरूरत नहीं है। हम पूरी तरह समर्थ हैं। हम बहुत कम कीमत पर टेक्नोलॉजी विकसित कर सकते हैं। हम नहीं चाहते कि प्रतिबंध हटाए जाएँ।'' डॉ. अब्दुल कलाम ने कहा, ''यदि आप प्रतिबंध लगाएँगे तो हम और भी तेज रफ्तार से आगे बढ़ेंगे।''

भारत-भावना, भारत के साहस ने ही भारत के कदमों को गति दी। दुनिया ऐसी ही ताकत का सम्मान करती है। सन् 1970 में अमेरिका ने चीन पर डोरे डालना शुरू किया। चीन उस समय सबसे गरीब देश था। सन् 1957 और 1960 के बीच चीन में भयंकर अकाल पड़ा, जिसमें 3 करोड़ लोग काल का ग्रास बन गए, इस तथ्य का खुलासा उन्होंने सन् 1987 में किया। सन् 1970 में अमेरिका की पहल पर चीन और अमेरिका एक-दूसरे से जुड़ गए। अमेरिका ने चीन का समर्थन माँगा, क्योंकि चीन के पास एटम बम था। इसी उद्देश्य से हेनरी किसिंजर चोरी-छिपे यात्रा करते हुए चीन पहुँच गए। उन्हें चाऊ एन लाई से भेंट करने के लिए 36 घंटे इंतजार करना पड़ा।

अत: इस बात में कोई संदेह नहीं कि आर्थिक शक्ति किसी भी देश की शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। अन्य घटकों के बिना आर्थिक शक्ति विश्व का सामना करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। हम कोई कोरिया या थाईलैंड या सिंगापुर नहीं हैं। ये सब छोटे-छोटे देश हैं, जो हमारी बस्तियों के बराबर हो सकते हैं। हमारा देश बहुत विशाल है। हमारा आकार सार्वभौमिक है, हमारा दृष्टिकोण भी विश्वव्यापी है। हमारा विचार दुनिया को जीतने का नहीं, हम तो विश्व कल्याण के बारे में सोचते हैं। हमारी प्रार्थना में भी यही भाव रहता है। इसलिए हमने हमेशा व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। आज की दुनिया में शक्ति का ही महत्त्व है, अत: भारत को व्यापक शक्तियों के बारे में सोचना होगा।

इंडियन काउंसिल फॉर रिसर्च ऑन इंटरनेशनल इकोनॉमिक रिलेशंस ने एक बहुत ही दिलचस्प दस्तावेज निकाला है। इसमें बताया गया है कि भारत एक विश्व शक्ति बन जाएगा और अमेरिका तथा चीन को छोड़कर अन्य देश क्षेत्रीय स्तर के होंगे। इसमें एक ऐसी भौगोलिक-राजनीतिक शक्ति, व्यापक सत्ता की बात कही गई है, जो सामरिक रूप से देश की रक्षा कर सकती है, सामरिक रूप से उनको डरा सकती है, जो भारत को डराते हैं। विगत में भारत ने केवल वाणिज्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में कदम रखा है। हमने कभी भी सैनिक शक्ति से विश्व को जीतने के बारे में नहीं सोचा। जीवन का सच यही है। इस प्रलेख में दक्षिण-पूर्व एशिया में ऐसी भारतीय रियासतों का भी जिक्र है, जो भारत से असंबद्ध रही हैं। कितने लोगों को पता है कि वियतनाम में आज भी सौ-दो सौ वैदिक परिवार हैं, जो वेदों का पाठ करते हैं? कि 1500 वर्ष तक, भारतीय सभ्यता, भारतीय राजाओं ने भारत से असंबद्ध रहते हुए वहाँ राज्य किया? हमने कभी उन्हें उपनिवेश नहीं बनाया। भारत की सोच में ऐसी रणनीति और ऐसी सोच का नितांत अभाव रहा।

हमें ऐसी रणनीतियाँ विकसित करनी होंगी। यह काम हमें सरकार के भरोसे नहीं छोड़ देना चाहिए। अमेरिका में व्यवसायियों ने वैचारिक मठों, विश्वविद्यालयों की स्थापना की है। उन्होंने बौद्धिक, मानसिक विकास और अमेरिकी भावना के विकास में योगदान दिया है। आर्थिक शक्ति बढ़ जाने से दूसरी जिम्मेदारियाँ सिर पर आ जाती हैं। आप सत्ता के दूसरे घटकों के कारण किसी देश की समृद्धि की रक्षा नहीं कर सकते। भारतीय कंपनियों, भारतीय व्यवसायियों को दूसरे क्षेत्रों के बारे में युक्तिपूर्ण ढंग से सोचना होगा—कौन से महत्त्वपूर्ण गठबंधन किए जाने चाहिए, किस महत्त्वपूर्ण टेक्नोलॉजी का विकास किया जाना चाहिए, सैन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विकल्प क्या हो सकते हैं, आदि-आदि। इसके बिना भारत की उन्नति अधूरी रहेगी। भारत के चरमोत्कर्ष में विलंब हो जाएगा। इसके लिए हमें एक मानसिक परिवर्तन की आवश्यकता है।

भारत की सबसे बड़ी बौद्धिक त्रासदी यह रही है कि सम्राट् अशोक की गलत ढंग से व्याख्या की गई है। इसने भारत का बौद्धिक रूप से दम घोंट दिया है। उसे बहुत उछाला गया है, उसकी प्रशंसा की गई है, उसका जश्न मनाया गया है, उसके उदाहरण दिए जाते हैं, उसको एक संन्यासी, एक शांतिदूत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अशोक के बारे में यह प्रस्तुतीकरण बिलकुल असत्य है। यदि अशोक कलिंग युद्ध में पराजित हो गया होता, तो

कोई भी उसे त्याग की मूर्ति या संन्यासी के रूप में प्रस्तुत नहीं करता। ऐसा सिर्फ इसलिए है, क्योंकि उसने युद्ध जीता, बड़ी निर्ममता से जीता और फिर युद्ध से संन्यास ले लिया। यह एक विजेता का संन्यास था, जिसकी हम खुशी मना रहे हैं। दुर्भाग्यवश, पूरे देश ने संन्यास का दामन पकड़ लिया, युद्ध से संन्यास, सत्ता से संन्यास। नतीजा यह हुआ कि हमने देश को नपुंसक बना दिया। यही कारण है कि हमने अपनी सेना को मजबूत नहीं बनाया, कभी अपनी क्षमता का निर्माण नहीं किया और सन् 1962 में हम लड़ाई हार गए। भारत, जिसे एक उभरती हुई शक्ति कहा जाता था, एक ऐसा देश कहा जाने लगा, जिसका कोई भी साथ देना नहीं चाहता था। इस देश को ऐसा मान लिया गया, जिसे सहायता दी जा सकती थी, पर जिसे साझेदार नहीं बनाया जा सकता था। हमें विश्व का समर्थन नहीं, विश्व के साथ साझेदारी चाहिए। आप तब तक साझेदार नहीं हो सकते, जब तक कि आपके पास शक्ति के वे सभी घटक न हों, जिनकी इस दुनिया में पूजा की जाती है। आपके पास हितकारी शक्ति होनी चाहिए, बर्बर शक्ति नहीं। इसके साथ एक इतिहास जुड़ा है। भारत में युद्ध के सिद्धांत बहुत ऊँचे स्तर के रहे थे। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका कहता है कि विश्व में युद्ध संबंधी सिद्धांत दूसरे विश्वयुद्ध तक बर्बरतापूर्ण थे।

भारत में राजाओं द्वारा तीन तरह के युद्ध लड़े जाते थे—धर्म विजय, लोभ विजय और असुर विजय। असुर विजय युद्ध कभी नहीं लड़ा जाता था। धर्म विजय में वे युद्ध के मैदान में नहीं जाते हैं, इसमें एक यज्ञ करते हैं और यज्ञ में जो शक्तियाँ भाग लेती हैं, वे यह स्वीकार कर लेती हैं कि आप उनसे बढ़कर हैं, उनसे अधिक शक्तिशाली हैं। इस तरह यज्ञ ने युद्ध की जगह ले ली। आप केवल इसलिए युद्ध नहीं छेड़ते थे, क्योंकि आपके पास बड़ी सेना होती थी। लोभ विजय में आप दूसरों को जीतना और उन पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं, लेकिन भारतीय सभ्यता कभी इसके पक्ष में नहीं थी, जब तक कि चाणक्य का पदार्पण नहीं हुआ। उसने कहा, 'हमें बर्बर युद्ध नहीं लड़ना चाहिए बल्कि एक महत्त्वाकांक्षी युद्ध लड़ना चाहिए। हमें अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहिए, हमें एक बड़े राज्य का निर्माण करना चाहिए।' सातवीं शताब्दी में उसके विचारों को देश में अस्वीकार कर दिया गया, क्योंकि वे भारतीय भावना से मेल नहीं खाते थे। यदि कोई राजा दूसरे राजा को जीत लेता था, तो उसे पराजित राजा को पुन: राजा की गद्दी पर बिठाना पड़ता था, जब तक कि वह स्वयं ही राजा बनने से इनकार न कर देता। फिर भी, किसी दूसरे व्यक्ति को ही राजा नियुक्त करना ही पड़ता, ताकि वह वहाँ के लोगों की प्रथाओं और परंपराओं की रक्षा कर सके। उस दस्तूर को तोड़ा नहीं जा सकता था। जब पृथ्वीराज चौहान ने मोहम्मद गौरी को 17 बार हराया, उसने इस प्रक्रिया का पालन किया। इस प्रकार भारत की युद्ध संबंधी आचार संहिता मुसलिम हमलावरों के साथ सभी युद्धों में भारत के विरुद्ध साबित हुई। हमें अपने सिद्धांतों को पुन: नई स्थितियों के अनुकूल बनाना होगा तथा वैचारिक दृष्टिकोण को नई दिशा देनी होगी।

ऐसा भारत जो केवल शक्ति के सहारे नहीं, बल्कि सदाचार और सिद्धांतों के आधार पर उन्नति करेगा, वह भारत विश्व को बदल देगा। जब आतंकवाद ने 11 सितंबर, 2001 को अमेरिका पर हमला किया, वह एक परा-आर्थिक घटना थी, लेकिन उसका असर अर्थव्यवस्था पर तो पड़ना ही था, जो कि उस हमले का इरादा भी था; उस घटना ने अमेरिका का आत्मविश्वास हिलाकर रख दिया। उस सदमे से वह अभी तक भी उबर नहीं पाया है।

हंटिंग्टन ने सन् 1993 में ऐसे सभ्यतागत आदिम और बर्बर हमलों की भविष्यवाणी की थी। बहुत से लोगों ने उस भविष्यवाणी को नकार दिया। लेकिन अब कोई नहीं कहता है कि ऐसा नहीं होगा, क्योंकि सबकुछ हमारी आँखों के सामने हो रहा है। भारतीय इतिहास और भूगोल के बाहर एक भी विचार ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें समरसता हो, सामंजस्य की भावना हो। हर विचार ने कहा, 'तुम मेरे भगवान् को मानो अन्यथा मैं तुम्हें मार दूँगा। तुम गैर-

मुसलमान हो, मूर्तिपूजक हो, तुम काफिर हो।'

आज यह संसार उन हिंसक विचारधाराओं के कारण हिंसा की चपेट में है, जो पिछली कई शताब्दियों से प्रबल होती आ रही हैं, भिन्न-भिन्न रूपों और आयामों के साथ; लेकिन उसी भावना, उसी आक्रामकता, उसी सैन्यवाद, उसी बर्बरता को लिये हुए। विश्व को भारतीय सीख की जरूरत है। सभ्यतागत समरसता केवल भारतीय चिंतन से आ सकती है। आपके विचार को कोई स्वीकार नहीं करेगा, यदि आप पूर्ण शक्तिशाली नहीं हैं। समरसता स्थापित करने के लिए, सभ्यतागत झगड़ों से बचने के लिए विश्व को भारतीय योगदान की आवश्यकता है। क्या भारत में इस योगदान के लायक इतने ऊँचे स्तर का बुद्धिवाद है?

स्वामी विवेकानंद ने सन् 1893 में 11 सितंबर को ही शिकागो में यह घोषणा की थी—'बर्बरता से पीड़ित इस दुनिया में, भारत की ओर से विश्व-बंधुत्व की भावना का उपदेश ही विश्व को बचाएगा। वह योगदान भारत से आएगा। और वह योगदान तब तक नहीं आ सकता, जब तब कि भारत को यह बोध न हो कि उसके पास योग्यता है, क्षमता है, विरासत है, बौद्धिक संसाधन हैं।' उसके पास इस दावे की पुष्टि करने के लिए अहस्तक्षेप के इतिहास का नैतिक समर्थन है कि भारत यह योगदान कर सकता है और उसे यह योगदान करना चाहिए। यह योगदान करने के लिए हमें इस तरह की शक्ति चाहिए, जिसकी व्यापक शक्ति का एक घटक आर्थिक शक्ति है। उस शक्ति की उपलब्धि और प्रदर्शन ऐसे महत्त्वपूर्ण मानदंड हैं, जिन्हें विश्व ने पहचाना और माना है तथा जिनके आधार पर विश्व को हमें स्वीकार करना चाहिए। यही वह संदर्भ है, जिसमें हम कह रहे हैं कि भारत का समय आ गया है, यह नहीं कि भारत के लिए समय आ गया है। विश्व को अपना संदेश देने के लिए भारत का समय आ गया है—बशर्ते कि हम उस संदेश के व्यापक, सूक्ष्म, गहन स्वरूप को समझ सकें, जो संदेश भारत विश्व को देना चाहता है।

❑❑❑